3·5

श्रिये नमः

भगवद् यामुनाचार्य विरचित

चतुश्श्लोकी

श्रीमद्वेदान्तदेशिक विरचित भाष्य सहिता

अनुवादक

स्वामी श्री. वि. श्री. रङ्गनाथाचार्य,
एम० ए०

प्रकाशक

श्री रामायण शोध संस्थान

लक्ष्मण किला, अयोध्या, उ० प्र०

श्रियै नमः

भगवद् यामुनाचार्य विरचित

चतुश्श्लोकी

श्रीमद्वेदान्तदेशिक विरचित भाष्य सहिता

अनुवादक

स्वामी श्री. वि. श्री. रङ्गनाथाचार्य, एम० ए०

★

प्रकाशक

श्री रामायण शोध संस्थान

लक्ष्मण किला, अयोध्या, उ० प्र०

प्रकाशक
श्री रामायण शोध संस्थान
लक्ष्मण किला, अयोध्या, उ० प्र०

मुद्रक :
गायत्री प्रेस
दारागंज, प्रयाग—६

प्रथम आवृत्ति
१९७२

मूल्य :
न्यौछावर दो रुपये

※ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ※

श्री सीतारामजी की कृपा से पूज्यपाद स्वामी श्री यामुनाचार्य प्रणीत 'चतु:श्लोकी' संस्कृत एव हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित होकर भक्तों के समक्ष विद्यमान है यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीतत्त्व के विवेचन में जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें चतु:श्लोकी का मुख्य स्थान है। श्री जी के स्वरूप रूप गुण लीला विभूति का प्रतिपादन करने वाला संस्कृत वाङ्मय में यह अनुपम ग्रन्थ है।

इस पर कवितार्किक सिंह श्रीवेदान्ताचार्य स्वामी का संस्कृत व्याख्यान अत्यन्त ही प्रसन्न गम्भीर है। मूलश्लोक एवं भाष्य की हिन्दी व्याख्याकार हैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तमिल के प्राध्यापक स्वामी श्री रङ्गनाथाचार्य जी। प्रयाग में इनकी विद्वत्ता से अनेकों श्रीवैष्णव साधक लाभ उठा रहे हैं। स्वामीजी श्रीभाष्य का अध्यापन भी प्रयाग में करते हैं। मैंने आपसे चतु:श्लोकी की व्याख्या के लिये अनुरोध किया। आपने बड़े उत्साह से इसकी हिन्दी व्याख्या की है। तमिल, संस्कृत, अंग्रेजी के विद्वान् होते हुये भी व्याख्याकार महोदय ने हिन्दी में व्याख्या लिखकर हिन्दी भाषियों को मुग्ध कर दिया है।

श्री रामायण शोध संस्थान के द्वारा दुर्लभ रहस्य ग्रन्थों का व्याख्या सहित प्रकाशन की योजना है। श्री जी की कृपा से अनेकों ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहे हैं। आगे भी होते रहेंगे ऐसी आशा है।

स्वामी सीताराम शरण

लक्ष्मण किला

अयोध्या

॥ श्रीः ॥

भूमिका

सभी संप्रदायों में देवी का एक महत्वपूर्ण स्थान है। मानवों में, मानवों में क्या प्राणिमात्र में माता का स्थान बहुत गौरव पूर्ण है। अतएव सभी संप्रदाय के साधक भगवान की उपासना के पूर्व भगवती की उपासना में लग जाते है। श्रीवैष्णव संप्रदाय तो और एक कदम आगे बढ़कर अपने संप्रदाय को श्री वैष्णव संप्रदाय कहने में गौरव का अनुभव करता है। श्री रामानन्द भगवान के अनुयायियों की दृष्टि में जगन्माता जनक नन्दिनी जानकी जी ही सब कुछ हैं। वे ही प्राप्य है और प्रापक हैं। वे इस निर्णय में पहुँचे हुए है कि 'सीता' से "नान्यं दैवं नैव जाने न जाने"।

पूर्वाचार्यों ने श्री लक्ष्मी जी के विषय में कई स्तोत्र लिखे हैं। भगवान श्री यामुनाचार्य चार श्लोकों में श्री के विभव का वर्णन किया। भगवान श्री रामानुज मुनि ने अपने शरणागति गद्य के आरम्भ में श्री की प्रपत्ति करके श्री के महत्त्व का प्रकाशन किया। श्रीवत्स चिह्न मिश्र ने श्रीस्तव लिखकर अपने को धन्य माना। श्री वेदान्त देशिक स्वामी ने अपनी श्रीस्तुति द्वारा श्री जी की प्रपत्ति की। श्री शङ्कराचार्य अद्वैती होने पर भी देवी के स्परूप रूप विभवों से आकृष्ट होकर कनकधारा स्तोत्र का प्रणयन किया।

इन सभी स्तोत्रों में श्री यामुनाचार्य स्वामी की चतुश्श्लोकी का एक अद्भुत महत्त्व है। इसे वरदवल्लभा स्तोत्र भी कहा जाता है। चार श्लोकों से बने जाने के कारण चतुश्श्लोकी कहते हैं। इन चार श्लोकों में क्रमशः श्री जी का नित्य और लीला विभूतियों का शेषित्व, उनका अत्यन्त दयावत्त्व, सकल पुरुषार्थ हेतुत्व और उनका प्रधान प्राप्यत्व वर्णित है। श्री यामुनाचार्य के अर्वाचीन आचार्यों की जितनी श्री स्तुतियाँ हैं उन सब का स्रोत यही चतुःश्लोकी है।

श्री वेदान्त देशिक स्वामी ने इस स्तोत्र का एक विस्तृत गंभीर व्याख्या की है। श्री के स्वरूप, रूप, गुण, विभव, ऐश्वर्य आदि के विषय में जितने प्रकार के मत हैं; और जितने प्रकार के संदेह हैं उन सभी का उल्लेख करके निर्णय दिया है। वास्तव में यह व्याख्या नहीं है; किन्तु श्रीतत्त्व के विषय में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। श्रुति, स्मृति, पाञ्चरात्र, इतिहास, पुराण आदि सभी ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करके अपने निर्णय को पुष्ट करते है।

चतुश्श्लोकी और इस व्याख्या के संस्कृत में होने के कारण यह ग्रन्थ रत्न सर्वजन सुलभ नहीं रहा। अयोध्याधाम के श्री लक्ष्मण किलाधीश, श्री तत्त्वमर्मज्ञ पूज्य पाद श्री सीताराम शरणजी महाराज ने इस न्यूनता को दूर करने सोचा। महाराज ने अल्पज्ञ मुझको इस स्तोत्र और व्याख्या का हिन्दी अनुवाद कार्य सौंपा। दास ने भी अपने आचार्य की कृपा के बल से यथामति अनुवाद करने का प्रयास किया है। यह केवल अनुवाद नहीं है। आवश्यक स्थलों में विवरण भी दिया है। आचार्य पाद के आशय को सुस्पष्ट करने में प्रयत्न किया है। जहाँ तक हो सके सरल भाषा को ही अपनाया है। हो सकता है कि कहीं-कहीं भाषा कुछ क्लिष्ट प्रतीत हो। विषय की गंभीरता ही इसका कारण है। आशा है पाठक गण इस अनुवाद और विवरण से अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

अंत में श्री जानकी जी से हमारी प्रार्थना है कि वे श्री लक्ष्मण किलाधीश को सर्वविध मङ्गल देकर इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन में प्रेरणा देते रहें, जिससे जनता समस्त श्रेय प्राप्त करे।

त्रिदण्डिमठ
प्रयाग—६

विद्वज्जन विधेय
वि. श्री. रङ्गनाथाचार्य

॥ श्रीः ॥

विषय-सूची

संख्या पृष्ठ

॥ श्रीः ॥

श्रियै नमः

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमते यामुनमुनये नमः

चतुःश्लोकी

श्रीमद्वेदान्तदेशिक विरचित भाष्य सहित

श्रीमान् वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी ।
वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥

स्वशेषाशेषार्थो निरवधिकनिर्बाधमहिमा
फलानां दाता यः फलमपि च शारीरकमितः ।
श्रियं तत्सध्रीचीं तदुपसदनत्रासशमनीं
अभिष्टौति स्तुत्यामवितथमतिर्यामुनमुनिः ॥

सभी वस्तु जिसके शेष हैं, जिस की महिमा की सीमा नहीं है, और बाध भी नहीं है, जो फलों का देने वाला है, और जीव से प्राप्य फल का प्रदाता है, उस नारायण के समान स्थित, उस नारायण के यहाँ जाने में जो भय होता है उसे शान्त करने वाली श्री की स्तुति व्यर्थ न होने वाली बुद्धि वाले श्री यामुनमुनि करते हैं।

अत्र समन्वयाविरोधसाधनफलविषयशारीरकचतुरध्यायीसमधिगतस्य भगवतस्सर्वप्रकाराभिमतानुरूपसह-(धर्मचारिणी) धर्मिणीविशिष्टतयाऽपि सर्वाधिकत्वं *कश्श्रीश्श्रिय इत्युक्तकैमुतिकन्यायकाकुगर्भया चतुश्श्लोक्या प्रकाशयन् प्रथमं श्रियः प्रतिपिपादयिषितानां विभूतिद्वयशेषित्वादीनां स्थापकमाह—

ब्रह्मसूत्र के समन्वय-अविरोध-साधन-फल नामक चार अध्यायों से भगवान की महिमा जानी जाती है। उन में माता लक्ष्मी जी से विशिष्ट होने से भी जो महत्ता है उसे यह चतुः श्लोकी स्पष्ट करती है। यह माता लक्ष्मी सर्व प्रकरों से भगवान के अभिमत है; और अनुरूप पत्नी हैं।

'प्राणेभ्योऽपि गरीयसी'

'तुल्य शीलवयोवृत्तां'

अर्थात् प्राणों से भी श्रेष्ठ है सीता, सीता अपने शील वयस् और चरित्र से राम से समान है आदि वाल्मीकिवाक्य यहाँ अनुसन्धेय हैं।

आचार्यपाद चतुः श्लोकी में श्री में स्थित नित्य और लीलाविभूति अर्थात् श्री वैकुण्ठ एवं भूमण्डल आदि विभूतियों के शेषित्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं। श्री शेषी है; विभूतियाँ शेष हैं। शेषी शेष को अपनी इच्छा के अनुसार, अपने प्रयोजन के लिए रखता है। शेष की स्थिति शेषी के अधीन होती है। इस शेषित्व आदि को जो स्थापित करता है उसे स्पष्ट करते है 'कान्तस्ते' श्लोक से।

कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिश्शय्याऽऽसनं वाहनं
वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया जगन्मोहिनी ।
ब्रह्मेशादिसुरव्रजस्सदयितस्त्वद्दासदासीगणः
श्रीरित्येव च नाम ते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम् ॥१॥

कान्तस्त इति । कान्तः-प्रियः, अनुरूपपतिरित्यर्थः । ते-सर्वमङ्गलास्पदत्वेन प्रमाणसिद्धायाः । एतत्पदद्वयाभिप्रेतं व्यञ्जितं गद्ये

श्लोकार्थ

हे महालक्ष्मी; आप के पति पुरुषोत्तम श्रीमन्नारायण हैं। शय्या आदि-शेष हैं। आसन और वाहन वेदों के आत्मा गरुड हैं। परदा जगत् को मुग्ध करने वाली माया है। दास्य करने वाले, ब्रह्मा शिव आदि देवगण और उनकी पत्नियाँ सरस्वती पार्वती आदि हैं। हे भगवति, आप का नाम तो श्री है। इतनी महिमा शालिनी आप की स्तुति हम अल्पज्ञ कैसे कर पायेंगे !

विशेषार्थ

कान्त :—प्रिय, अनुरूप पति। ते—श्रुति आदि प्रमाणों से सर्व मङ्गलों के स्थान के रूप में प्रसिद्ध आप का। 'कान्तः ते' इन दोनों पदों से अभिप्रेत अर्थ का व्यञ्जन शरणागति गद्य में 'देव-देव दिव्य महिषीं' शब्द से किया जाता है। पुरुषोत्तमः—लक्ष्मीकान्त का विशेषण है यह शब्द। भगवान का यह नाम उन के परत्व का व्यञ्जक है। अपने परत्व को स्वयं भगवान कृष्ण 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' आदि गीता श्लोकों में व्यक्त किया है।

देवदेवदिव्यमहिषीमिति । द्वाविमौ पुरुषौ लोके इत्यादिभिस्स्वेनैव निरुक्तेन परत्वव्यञ्जकेन समाख्याविशेषेण लक्ष्मीकान्तं विशिनष्टि—**पुरुषोत्तम** इति। अत्र पञ्चम्यादिविभक्तित्रयेऽपि समासश्शब्दवित्संमतः । अनेन हिरण्यगर्भादीनामपि भगवदपेक्षयाऽधमत्वव्यञ्जनात्तत्पत्नीभ्यः पुरुषोत्तमपत्न्या उत्तमत्वं सूचितम्। अवतारेऽपि ह्यसौ

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

लोक में ये दो पुरुष हैं-क्षर और अक्षर । क्षर ब्रह्मा से स्तम्बनामक कीट पर्यन्त समस्त भूत प्राणी हैं। और अक्षर कूटस्थ-अचित्सम्बन्ध से वियुक्त, स्वस्वरूप में स्थित मुक्तात्मा है। परंतु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा कहलाता है । वह तीन लोकों को अर्थात् जड, जड से संयुक्त चेतन, मुक्त इन तीनों को अन्तर्यामी रूप से इन में प्रविष्ट होकर धारण करता है । उस के अव्यय और ईश्वर होने के कारण उक्त तीनों से भिन्न है । उक्त स्वभावों से मैं क्षर-पुरुष से अतीत हूँ; अक्षर-मुक्त से भी उत्कृष्ट हूँ। अतः स्मृति और वेद में 'पुरुषोत्तम' ऐसा प्रसिद्ध हूँ ।

*नारीणामुत्तमेत्युच्यते। एवमस्याः पतिसंबन्धेन प्रकर्ष उक्तः। अथ पत्युरिव विभूतिसंबन्धेनापि प्रकर्षं वदन्नित्यसूरिपरिबृढानामपि एददुपकरणत्वमुदाहरति—**फणिपतिश्शय्येति**। अत्र फणिपतिशब्देन सुरभिसुकुमारशीतलविशालोन्नतत्वादिरूपाः पर्यङ्कगुणा व्यज्यन्ते।

पुरुषेभ्यः उत्तमः, पुरुषाणां उत्तमः, पुरुषेषु उत्तमः इस प्रकार पुरुषोत्तम शब्द के तीन प्रकार के विग्रह व्याकरण जाननेवाले लोग करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भ आदि देवता भी भगवान की अपेक्षा अवर ही हैं। तो उन देवों की पत्नियों से पुरुषोत्तम की पत्नी महालक्ष्मी का उत्तमत्व सूचित होता है। अवतार में भी यह 'नारीणामुत्तमा वधूः' नारियों में उत्तम कही जाती है। इस प्रकार पति के सम्बन्ध से इनका उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ।

फणिपतिः शय्या—अब विभूति सम्बन्ध से लक्ष्मी का उत्कर्ष वर्णन करते हैं। शेषनाग आदि नित्यसूरिश्रेष्ठ हैं। वे भी इनके उपकरण बनकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। फणिपति-नागों के पति आदिशेष इन की शय्या हैं। शय्या में सुगन्ध, सौकुमार्य, शैत्य, शीतलता और उन्नतत्व आदि गुण होना चाहिए। (श्री गोदाम्बा भी अपने तिरुप्पावै प्रबन्ध में 'पञ्चशयन' कहती हैं।) शेषनाग का प्रभाव,

कल्पान्ते यस्य वक्त्रेभ्यः विषानलशिखोज्ज्वलः।
सङ्कर्षणात्मको रुद्रः निष्क्रम्यात्ति जगत्त्रयम्॥

तत्प्रभावश्च, * कल्पान्ते यस्य वक्त्रेभ्यो विषानलशिखोज्ज्वलः । सङ्कर्षणात्मको रुद्रो निष्क्रम्यात्ति जगत्त्रयम् ॥ स बिभ्रच्छेखरीभूतमशेषं क्षितिमण्डलम् । आस्ते पातालमूलस्थश्शेषोऽशेषसुरार्चितः ॥ तस्य वीर्यं प्रभावं च स्वरूपं रूपमेव च । न हि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि ॥ इत्यादिषु प्रसिद्धः । स्तोत्रे च *तया सहासीनमनन्त-भोगिनीत्यादौ । आसनशब्द इह काकाक्षिन्यायादुभयतो योज्यः । उक्तं

स बिभ्रच्छेश्वरीभूतमशेषं क्षितिमण्डलम् ।
आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्चितः ॥
तस्य वीर्यं प्रभावं च स्वरूपं रूपमेव च ।
न हि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि ॥

आदि में प्रसिद्ध है । अर्थात् कल्प के अन्त में शेषनाग के मुँह से विष जैसी स्थित अग्नि ज्वाला से उज्ज्वल सङ्कर्षणात्मक रुद्र निकलकर तीनों लोकों को खा लेता है । वह आदिशेष संपूर्ण भूमण्डल को अपने सिर पर धारण करते हुए सभी देवों से अर्चित होकर पाताल में रहता है । उसका वीर्य, प्रभाव, स्वरूप एवं रूप देवों से भी वर्णन करने का अशक्य है, तथा वीर्य आदि का जानना भी अशक्य है । स्तोत्ररत्न में भी 'तया सहासीनमनन्त भोगिनि' इत्यादि से शेषनाग का प्रभाव वर्णित है ।

ह्याद्ये पुराणे तन्नामसहस्रे, *भोगप्रिया भोगवती भोगीन्द्रशयनासनेति, अजिताकर्षणी नीतिर्गरुडा गरुडासनेति च। *वहेयं यज्ञं प्रविशेयं वेदान् इति सौपर्णश्रुतिविवक्षितं वेदाभिमानिदेवताधिष्टातृत्वमभिप्रेत्याह— **वेदात्मा विहगेश्वर** इति। वेदाधिष्ठातृतया वेदानामात्मा; यद्वा, तद्विशिष्टत्वेन तत्समानाधिकरणतया वेद आत्मा यस्येति विग्रहः।

आसनम्—इस आसन शब्द का अन्वय काकाक्षिन्याय से फणिपति तथा विहगेश्वर गरुड के साथ करना चाहिये। आद्यपुराण में लक्ष्मी सहस्रनाम में कहा है—

भोगप्रिया भोगवती भोगीन्द्र शयनाऽऽसना।

एवं

अजिताकर्षणी नीतिः गरुडा गरुडासना॥

काकाक्षिन्याय कौवा एक ही आँख से दोनों तरफ देखता है। इस प्रकार एक आसन शब्द फणिपति और विहगेश्वर से अन्वित होता है।

वेदात्मा विहगेश्वर : सौपर्णश्रुति में कहा है कि 'वहेयं यज्ञं प्रविशेयं वेदान्' इसका तात्पर्य है कि गरुड वेद का अभिमानि देवता है। वेदों का अभिमानि देवता होने के कारण वेदों की आत्मा है गरुड। अथवा वेद से विशिष्ट होने से उसके समानाधिकरण है। तत्र 'वेदः आत्मा यस्य' ऐसा विग्रह है।

*सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यादिष्वप्यस्य वेदात्मत्वं ग्राह्यम्। एवं सर्ववेदाभिमानितया सर्वज्ञत्वमप्यस्य सूच्यते। बलादिगुणजातमपि अमृतापहरणादिषु प्रसिद्धम्। यद्यपि विहगेश्वरशब्द:*सत्यस्सुपर्णो गरुडस्तार्क्ष्यस्तु विहगेश्वर: इति **श्रीसात्वतादिषु** प्राणादिपञ्चकाधिपतित्वेनावस्थितस्य गरुडस्य व्यूहविशेषमभिधत्ते तथाप्यत्र विशेषकाभावात् गरुत्मन्मात्रविषय:। फणिपतिविहगेश्वरयोरुपादानमिह मिथो विरुद्धजातीयैरप्यविरोधेन युगपत्सेव्यत्वं सूचयति। कैमुत्यादन्येषां नित्यानां मुक्तानामप्येतत्परि-

---

'वेदानां आत्मा' इस प्रकार जो पहली योजना है उसमें वैयधिकरण्य है। द्वितीय योजना 'वेद: आत्मा' में सामानाधिकरण्य है। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' इत्यादियों से भी गरुड का वेदात्मत्व ज्ञातव्य है। इस सभी वेदों के अभिमानि देवता होने से इनका सर्वज्ञत्व भी सूचित होता है। इनका बल आदि गुणगण भी अमृताहरण आदि में प्रसिद्ध है। 'सत्य: सुपर्णो गरुड: तार्क्ष्यस्तु विहगेश्वर:' आदि श्री सात्वत आदि ग्रन्थों में यद्यपि विहगेश्वर शब्द प्राण, अपान, व्यान, उदान समानों के अधिपति के रूप में स्थित गरुड के व्यूह विशेष को बताता है तो भी यहाँ पृथक करके कहने का कोई कारण नहीं है। अत: यह शब्द गरुड मात्र को बताता है। शेषनाग और गरुड का यहाँ एक साथ उल्लेख करना इसे सूचित करता है कि परस्पर विरुद्ध जाति वालों से भी विरोध के बिना एक ही समय में लक्ष्मी जी सेव्य हैं। कैमुत्यन्याय से अन्य नित्य मुक्तों का भी इनके परिजन

च्छदभावेनावस्थानं ख्याप्यते । तेषामप्येतदाज्ञाकरत्वमुक्तं श्रीवैकुण्ठगद्ये *शेषशेषाशनादिसर्वपरिजनमित्यादिना । एवं सर्वस्या अपि नित्यविभूते-स्तच्छेषत्वं तात्पर्यतः प्रदर्शितम् । अथ लीलाविभूतौ अचिदंशस्य प्रथमं तच्छेषतामाह **यवनिका माया जगन्मोहिनीति** । अत्र यवनिका-शब्दाभिप्रेतं **गद्ये** * भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीमिति विवृतम् । एतद्-ग्रन्थद्वयतात्पर्येण दिव्यदम्पत्योरनाश्रितापेक्षया त्रिगुणतिरस्करिण्या तिरोधेयत्वं फलितम् । मायाशब्दोऽयम् * मायां तु प्रकृतिं विद्यात् इति

के रूप में अवस्थान व्यक्त होता है । 'देव भी उसके सामने खड़े नहीं हो सकते तो साधारण मनुष्य के बारे में क्या पूछना' इस तरह किसी बड़े व्यक्ति की स्थिति यह है तो छोटे व्यक्ति इस विषय में सर्वथा असमर्थ है, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कैमुत्यन्याय है । श्री वैकुण्ठगद्य में 'शेष शेषाशनादि सर्व परिजनम्' आदि से नित्य सूरियों का भी भगवान का आज्ञा कारित्व उक्त है । इस प्रकार यह प्रतिपादित हुआ कि सभी नित्य विभूति श्री का शेष है ।

यवनिका माया जगन्मोहिनी—इससे पहले यह कहते हैं कि लीलाविभूति में अचिदंश श्री का शेष है । यहाँ के यवनिका शब्द का अर्थ शरणागति गद्य में स्पष्ट किया हुआ है—'भगवत्स्वरूप तिरोधानकरीम्' वाक्यांश से । अर्थ है कि भगवान के वास्तविक स्वरूप का अच्छादन करने वाली । इन दोनों ग्रन्थों से यह अर्थ फलित होता है कि गुणत्रय रूप यवनिका से दिव्यदम्पती उनके लिये

प्रकृतिविषयतया **श्वेताश्वतरैर**धीतः। स च विचित्रसृष्ट्युपकरणतया प्रकृतेराश्चर्यमयत्वं व्यञ्जयति। जगन्मोहिनीत्यनेन जीवपरमात्मादिषु विपरीतधीहेतुत्वं शब्दादिगुणपरिणतिशबलितस्वविषयभोग्यताबुद्धि-जनकत्वं च विवक्षितम्। ईदृशप्रकृतिमोहितानां कर्मवश्यानां सर्वेषामपि विष्णुपत्नीशेषत्वमुत्कृष्टमुखेन कैमुत्यन्यायादुपलक्षयति-**ब्रह्मेशादिसुर-व्रजस्सदयितस्त्वद्दासदासीगण** इति। प्रकर्षनिदर्शनादीश्वरत्वशङ्कास्पदयोः* एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ इत्याद्युक्तयोर्ब्रह्मेशयोरप्यग्नीन्द्रादिभिरैकरा-

---

तिरोहित होते हैं जो उनके आश्रित नहीं हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया शब्द का अर्थ प्रकृति कहा है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' विचित्र सृष्टि का उप-करण होने से प्रकृति के आश्चर्यमयत्व को यह व्यक्त करता है। 'जगन्मोहिनी' से यह विवक्षित है कि जीव और परमात्मा के विषय में विपरीत बुद्धि उत्पन्न करने वाली यही है। तथा शब्द, रूप आदि गुणों के रूप में परिणत होकर अपने में भोग्यत्व बुद्धि उत्पन्न करने वाली यही है।

ब्रह्मेशादि सुरव्रजस्सदयितः त्वद्दासदासीगणः:—ऊपर उक्त प्रकृति से मोहित, कर्म के वश्य सभी विष्णु पत्नी के शेष हैं। इस बात को उत्कृष्ट ब्रह्मा शिव आदि के नाम लेकर कैमुत्यन्याय से सिद्ध करते हैं। उत्कृष्ट रूप में निद-र्शित होने से ब्रह्मा तथा शिव में यह शङ्का हो सकती है कि ये ईश्वर हैं। उनके विषय में तो कहा है कि 'एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ।' अर्थात् ये ब्रह्मा और शिव दोनों

श्यसूचनाय व्रजगणशब्दौ । सदाश्रित इत्युपादानेऽप्यौचित्याद्दासीशब्दस्त-त्पत्न्यंशेऽन्वेतव्यः । उक्तार्थे श्रुत्यादीनि प्रमाणानि तिष्ठन्तु, असाधा-रणसमाख्यैवालमिति ख्यापयति-श्रीरित्येव च नाम त इति । *श्रयन्तीं श्रीयमाणां च शृण्वतीं शृणतीमपि । शृणाति निखिलं दोषं श्रृणाति च गुणैर्जगत् । श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम् ॥ इत्यादिनि-रुक्तिरिहाभिप्रेता । * निस्सङ्कल्पा निराश्रयेति नाम तु * श्रयते च परं

देवों में श्रेष्ठ हैं । इस शङ्का को दूर करने के लिये, इन ब्रह्मा और शिव के भी अग्नि इन्द्र आदि अन्य देवों से समानता दिखाने के लिये 'व्रज' और 'गण' शब्द प्रयुक्त हुये हैं । सुरव्रज दास है; उनकी पत्नियाँ दासी हैं ।

श्रीरित्येव च नाम ते—ऊपर जो अर्थ कहा गया उस विषय में श्रुति आदि प्रमाण को रहने दीजिये । आपका असाधारण नाम ही इस अर्थ को कहने में पर्याप्त है । यहाँ इस निरुक्ति से तात्पर्य है कि

श्रयन्तीं श्रीयमाणां च शृण्वतीं शृणतीमपि ।
शृणाति निखिलं दोषं श्रृणाति च गुणैर्जगत् ॥
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम् ॥

अर्थात् आश्रय करने वाली, आश्रित होने वाली, आश्रितों का वचन सुनने वाली उस वचन को भगवान को सुनाने वाली हैं लक्ष्मी जी । वे सभी दोषों को दूर करती हैं । अपने गुणों से लोक को व्याप्त कर रहती हैं । सबसे सर्वदा आश्रित

पदमित्याद्यविरोधेन नेयम् ।* अकलङ्काऽमृताधारा इति पूर्वोक्तानुसाराच्च । अमृतो हि परमात्मा, तदाधारा चेयम् । अत एव हि सोऽपि श्रीनिवासः श्रीधर इति च समाख्यायते । उक्तं च **श्रीसात्वते**— *यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्तिर्मम तदात्मिका इति । यन्निवेशात् सर्वत्र प्राशस्त्यधीस्सैव हि ते समाख्येत्येवकाराभिप्रायः । निर्दोषमङ्गलगुणाकरत्वज्ञापनाय भगवतीत्युक्तिः । ईदृशातिशयशालिन्याश्श्रियो यथावत् स्तोतुमशक्यता-

---

होती है । भगवान में आश्रित रहती हैं । 'निस्सङ्कल्पा निराश्रया' सङ्कल्प रहित और आश्रय रहित है—ऐसा कहने का तात्पर्य है कि परमपदनाथ के बिना किसी अन्य पर आश्रित नहीं । पहले भी कहा है कि 'अकलङ्का अमृताऽऽधारा' । अमृत परमात्मा है । वह परमात्मा इनका आधार है । इसलिये तो वह परमात्मा श्रीनिवास, श्रीधर आदि नामों से अभिहित हैं । श्री सात्वत में कहा है—

'यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्तिर्मम तदात्मिका ।'

अर्थात् मैं इनका आश्रय हूँ, अतः मेरी मूर्ति तदात्मक है । एवकार का तात्पर्य है कि जिस श्री शब्द के निवेश से सर्वत्र प्राशस्त्य बुद्धि होती है वही तो आपका नाम है । दोष राहित्य एवं मङ्गल युक्तता को दिखाने के लिये भगवती शब्द का प्रयोग हुआ है ।

माह—ब्रूमः कथं त्वामिति ॥ त्वाम्-उक्तप्रक्रियया विष्णुपत्नीत्वेन तदितरसर्वशेषित्वेन तदुचितनामधेयादियोगेन च प्रसिद्धाम्।* न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वाऽपि वेधस इति चतुर्मुखेनापि स्तोतुमशक्यतयोक्तां चेति भावः। वयं परिमितज्ञानशक्तयः।* ब्रह्माद्यास्सकला देवा मुनयश्च तपोधनाः। त्वां स्तोतुमपि नेशानास्त्वत्प्रसादलवं विना॥ इति वचनानुसारेण ब्रह्मादीनां स्वस्य चात्राविशेषव्यञ्जनाय बहुवचनम्।

ब्रूमः कथं त्वाम् इस प्रकार की महिमा से युक्त श्री की स्तुति यथावत् करना अशक्य है। त्वां-ऊपर उक्त प्रकार से, विष्णु पत्नी, विष्णु से भिन्न सभी के शेषी, उसके उचित नामधेय आदि से युक्त के रूप में प्रसिद्ध। 'न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वाऽपि वेधसः' अर्थात् ब्रह्मा की जिह्वा भी आपके गुणों के वर्णन में असमर्थ है। इस प्रकार स्थित।

वयं—सीमित ज्ञान शक्ति वाले।

ब्रह्माद्याः सकला देवाः मुनयश्च तपोधनाः।
त्वां स्तोतुमपि नेशानाः त्वत्प्रसादलवं विना॥

अर्थात् ब्रह्मा आदि सकल देव, तपोधन मुनिगण भी आपके अनुग्रह लेश के बिना आपकी स्तुति करने में अशक्त हैं। इस वचन के अनुसार यह दिखाने के लिए यहाँ बहुवचन (वयं) प्रयुक्त है कि ब्रह्मा आदि देव और अपने में कोई वशिष नहीं है।

कथं ब्रूमः -कात्स्न्येंन त्वद्वर्णनमशक्यं, परिच्छिद्य वर्णनं त्वनुचितमिति भावः।

ये पुनराहुः श्रीर्नाम भगवतस्सर्वकर्तुरधिष्ठेया प्रकृतिरिति। ये च तस्य सत्ताऽहन्ताप्रभाशक्तिविद्येच्छाभोक्तृतादिरूपेयम्, शास्त्रेषु तथा-तथा व्यपदेशदर्शनादित्याहुः तेषां तत्रैव शास्त्रे निर्बाधेन चेतनत्वव्य-पदेशेन निरासः। अत्राप्ययमर्थः ते त्वामिति युष्मच्छब्देन संबोधनेन च श्रियश्चेतनत्वमुपस्थापयता सूचितः। सत्तादिशब्दास्त्वस्यां भगवदन्त-

---

कथं ब्रूमः—संपूर्णतया आपका वर्णन अशक्य है; अंश-वर्णन अनुचित है।

श्री का स्वरूप निर्णय

कुछ लोग कहते है—सर्व कार्यों के कर्ता भगवान की अधिष्ठान के रूप में स्थित प्रकृति ही श्री कही जाती है। और कुछ लोगों का मत है कि भगवान की सत्ता, अहंता, प्रभा, शक्ति, विद्या, इच्छा, भोक्तृता आदि रूपा है श्री। क्यों कि शास्त्रों में जहाँ तहाँ इस प्रकार श्री का निर्देश पाया जाता है, इन मतों का निरास उन शास्त्रों में ही लक्ष्मी में अबाधित चेतनत्व बताने से किया गया है। यहाँ भी इस श्लोक में, ते, त्वं शब्दों से, तथा संबोधन से श्री का चेतनत्व जो प्रतीत होता है उससे यह अर्थ सूचित होता है। सत्ता आदि शब्दों से श्री

रङ्गविशेषणत्वाद्यभिप्रायः । प्रकृतेरन्यत्वं तु ते यवनिकेत्यनेनापि दर्शितम् । न चास्याः प्रकृतिशब्दोपात्ततामात्रेण त्रिगुणद्रव्यतादात्म्यम्, *वासुदेवः परा प्रकृतिः *प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादित्युक्ते भगवत्यपि प्रसङ्गात् । *जगदुत्पादिका शक्तिस्तव प्रकृतिरिष्यते । सैव नामसहस्रैस्तु लक्ष्मीः श्रीरिति कीर्त्यते ॥ *मूलप्रकृतिरीशानी *प्रकृतेः पुरुषाच्चान्यस्तृतीयो नैव विद्यते इत्यादीनि ब्रह्मवचनान्यपि लक्ष्मीनाराय-

---

का जो व्यवहार हुआ है उसका तात्पर्य है कि भगवान का यह लक्ष्मी अन्तरङ्ग विशेषण है । वस्त्र आदि बहिरङ्ग; विशेषण की तरह न होकर, प्राण की तरह श्री अंतरङ्ग विशेषण है । 'ते यवनिका' ऐसा कहने से भी यह सिद्ध है कि लक्ष्मी प्रकृति से भिन्न है । प्रकृति शब्द से इनको कहने से ही यह त्रिगुणद्रव्य नहीं हो जायगी । ऐसा मानने पर 'वासुदेवः परा प्रकृतिः' 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादि में उक्त भगवान में भी प्रकृतित्व को मानना पड़ेगा ।

जगदुत्पादिका शक्तिः तव प्रकृतिरिष्यते ।
सैव नामसहस्रैस्तु लक्ष्मीः श्रीरिति कीर्त्यते ॥
मूलप्रकृतिरीशानी,
प्रकृतेः पुरुषाच्चान्यत् तृतीयो नैव विद्यते ।

अर्थात् आपकी जगत् की उत्पादन करने की जो शक्ति है वह प्रकृति मानी जाती है । वही प्रकृति सहस्रों नामों से लक्ष्मी, श्री इस प्रकार कही जाती है ।

णयो: प्रकृतिपुरुषरूपविभक्तविभूतिविशेषाभिमानित्वाभिप्रायेण । रहस्याम्नाये तु, प्रकृतौ लक्ष्म्यां च विद्याशब्द: प्रयुक्त इत्येतावताऽपि न तयो:स्वरूपैक्यम् । तत्र हि सत्त्वोन्मेषमुखेन विद्याहेतुतया प्रकृतौ विद्याशब्द:, लक्ष्म्यां तु विद्याप्रवर्तकत्वादिति विशेष: । ये तु सत्तादिविशिष्टो भगवानेव श्रीरिति वा, श्रीरूपनित्यविग्रहान्तरविशिष्टस्स एवेयमिति वा,

---

मूल प्रकृति ईशानी है । प्रकृति और पुरुष इनसे अतिरिक्त और कोई तीसरा पदार्थ नहीं है ।

इत्यादि ब्रह्मा के जो वचन है उनका यह अभिप्राय है कि विभूति प्रकृति और पुरुष के रूप में विभक्त है । इनमें प्रकृति की अभिमानि देवता लक्ष्मी हैं, पुरुष के अभिमानि देवता नारायण है । रहस्याम्नाय में प्रकृति और लक्ष्मी के अर्थ में विद्या शब्द प्रयुक्त हुआ है । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि प्रकृति और लक्ष्मी के स्वरूप में ऐक्य है । वहाँ सत्त्व को उद्बुद्ध करके विद्या का हेतु बनने से प्रकृति के अर्थ में विद्या शब्द का प्रयोग हुआ है । विद्या का प्रवर्तक होने के कारण लक्ष्मी के अर्थ में विद्या शब्द का प्रयोग है ।

और कुछ लोग कहते है कि सत्ता, अहंता आदि से युक्त भगवान ही श्री हैं, श्री रूप एक सर्वदा विद्यमान अन्य विग्रह (मूर्ति) से युक्त भगवान ही श्री है, जिस तरह दैत्यों को मोहित करने के लिए भगवान जगन्मोहक स्त्री रूप में प्रकट हुए उस प्रकार अपने भोग के लिए कभी कान्ता का विग्रह स्वीकार करते

दैत्यमोहनभूमिकापरिग्रहन्यायेन स्वयमेव भोगार्थं परिगृहीतकादाचित्क-कान्ताविग्रहस्स एव श्रीरिति वा वदन्ति; तेऽपि तद्विपयनिर्बाधनित्यभिन्न-चेतनत्वव्यपदेशकैस्तैस्तैरेव शास्त्रैर्निराकृताः ।* ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ इति श्रुतिश्च पत्युः पत्न्याश्च स्वरूपभेदं स्वरसतो दर्शयति । न चात्रानन्यथासिद्धं बाधकमस्ति । इदमप्यत्र कान्तस्त इति व्यधिकरणनिर्देशेन व्यञ्जितम् । ये च मन्यन्ते-भगवत

हैं; इस कान्ता विग्रह में दर्शन देने वाले हरि ही लक्ष्मी है । ये भी पक्ष उक्त शास्त्रों से ही निराकृत है जो शास्त्र लक्ष्मी का नित्यबाधरहित भिन्न चेतनत्व बताते हैं । 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' यह श्रुति भी पति और पत्नी का भेद स्वरसत: बताती है । इस भेद को मानने से रोकने वाला कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है । यह बात भी यहाँ 'कान्तः ते' ऐसे व्यधिकरण निर्देश से व्यञ्जित है । ते-तुम्हारा—यह षष्ठी है; कान्तः—यह प्रथमा है । नील: घट: जैसे समानाधिकरणस्थल में ही अभेद कह सकते हैं ।

और कुछ लोगों का मत है कि श्री शब्द का अर्थ भगवान के स्वरूप का एकदेश हैं, पृथक् 'अहं' ऐसी बुद्धि करने योग्य है; परस्पर भोग के लिए सर्वदा स्वीकृत है । अत: इसे भिन्न तथा अभिन्न कहने में, चेतन कहने में कोई विरोध नहीं है । यह भी पक्ष निरस्त ही है क्योंकि प्रमाण कहते हैं कि ब्रह्म स्वरूप से

एव स्वरूपैकदेशः पृथगहन्तया परस्परभोक्तृत्वाय सर्वदा परिगृहीत-
स्त्रीरूपश्श्रीशब्दार्थः। तेन भेदाभेदव्यपदेशयोश्चेतनत्वस्य चाविरोध
इति; तेऽपि ब्रह्मणःस्वरूपतो निरवयवत्वं प्रतिपादयद्भिः प्रमाणैर्निरस्ताः
*नरनारीमयो हरिः इति ब्राह्मपुराणवचनेन तु हरेर्नारीमय-
त्वव्यपदेशो*ज्योत्स्नेव हिमदीधितेरिति तत्रत्यदृष्टान्तानुसारेण प्रभाश्रयस्य
प्रभामयत्वव्यपदेशवत्स्वरूपभेदाविरोधेन निर्वाह्यः। एतेन बीजादेरङ्कुरोपा-
दानांशवद्विश्वोपादानस्य ब्रह्मणः कार्योपयुक्तस्वरूपैकदेश एव स्वभावतो
वा परिणतिशक्त्या वा उपाधिभेदेन वा भिन्नाहन्ताश्रयश्श्रीरिति व्यपदि

अवयव रहित है। जिसका अवयव नहीं है उसका एकदेश कैसे हो सकता है?
'नरनारीमयो हरिः' इस ब्राह्मपुराणवचन में हरि का नारीमयत्वव्यपदेश है।
हरि और लक्ष्मी के स्वरूप में जो भेद है उसके अविरुद्ध इस व्यपदेश का तात्पर्य
लेना है। प्रभा, प्रभा का आश्रय दीप दोनों स्वरूप से भिन्न ही है। तो भी
दीप को प्रभामय कहते हैं। ब्राह्मपुराण में इस प्रकरण में दृष्टान्त दिया है कि
'ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः' अर्थात् चन्द्र की चांदनी की तरह। चन्द्र और चांदनी
भिन्न ही है।

और एक पक्ष है—सारे विश्व का उपादान कारण ब्रह्म है। इस विश्वरूप कार्य
में ब्रह्म के स्वरूप का एकदेश उपयुक्त होता है। जैसे संपूर्ण बीज में एकदेश ही
अंकुर का उपादान होता है। इस विश्वकार्य के लिए उपयुक्त ब्रह्म का अंश ही

श्यत इति पक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः, ब्रह्मणस्स्वरूपपरिणामादेश्च शारीरके निरस्तत्वात्। उपहितांशभेदपक्षस्तु विग्रहाद्युपाधौ सञ्चरति निरवयवे ब्रह्मस्वरूपे सरिज्जलादौ घटादिनेवोपाधिना कस्यचिदंशस्यान्यत्राकर्षणायोगात्, घटाकाशन्यायेन पूर्वपूर्वोपहितांशपरित्यागे तु तत्तदंशस्य भोक्तुरभावा-

---

श्री कहलाता है। यही ब्रह्म से स्वभाव से अथवा उसकी परिणति शक्ति से अथवा उपाधि भेद से भिन्न अहन्ता का आश्रय है। यह पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि शारीरकशास्त्र में ब्रह्मस्वरूपपरिणामवाद खण्डित हो चुका है।

उपहितांश भेद पक्ष भी ठीक नहीं है। यह पक्ष इस प्रकार हैं। तडाग (तालाब) में विद्यमान जल एक ही है। परन्तु एक घड़े में उस तालाब से जल लेने पर उस घड़े का जल घट रूप उपाधि से तालाब के जल से भिन्न प्रतीत होता है। इस तरह लक्ष्मी का पृथक् विग्रह रूप उपाधि के कारण ब्रह्म से लक्ष्मी भिन्न प्रतीत होती है। यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि घड़े से जैसे तालाब के जल को अलग अन्यत्र ले जाते हैं वैसे विग्रह आदि उपाधि से ब्रह्म से उसके अंश को अन्यत्र नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा कहते है कि जैसे आकाश एक ही है, तो भी घट के अंदर स्थित आकाश, कलश के अंदर स्थित आकाश अर्थात् घट और कलश रूप उपाधियों से परिच्छिन्न आकाश भिन्न है। एवं एक ही घटको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर प्रथम स्थल में घट रूप उपाधि से उपहित आकाशांश छोड़ दिया जाता है। नया आकाशांश घट से उपहित-अवच्छिन्न

दुत्तरोत्तरोपहितांशानां पूर्वपूर्वांशानुभूतभोगप्रतिसन्धानानुपपत्तेः, भोक्तृतत्सन्तत्येकतामात्रेण प्रतिसन्धाने सौगतमतोन्मज्जनेन स्थिरात्मपरित्यागप्रसङ्गाच्चात्यन्तानुपपन्नः। अवतारपरिणामोपाधिभिन्नांशवादिनो लक्ष्म्यादेर्नित्यदेहादिप्रमाणैश्च निरासिरे। एतदपि सर्वमत्र व्यधिकरणप्रयोगेनैव सूचितम्। *कीर्तिश्श्रीर्वाक्च नारीणामित्यादिसमानाधिकरणप्रयोगश्च

होता है। इस प्रकार माया से ब्रह्म का एक अंश उपहित होता है। वह जीव है। पूर्व-पूर्व अंशों से अनुभूत भोगों का स्मरण नहीं हो सकता है। परन्तु स्मरण तो होता है। यदि ऐसा मानें कि भोक्ताओं के भिन्न-भिन्न होने पर भी उनकी संतति (परंपरा) एक है; अतः स्मरण होता है। तब बौद्धमात प्रवेश सिद्ध होगा। उनके मत में ही मानते हैं कि आत्मा क्षणिक है; पहले अनुभूत वस्तुओं का स्मरण आत्माओं की संतति की एकता के कारण होता है। इस पक्ष के स्वीकार करने पर स्थिरात्म पक्ष का परित्याग करना पड़ेगा। अतः यह पक्ष अत्यन्त अनुपपन्न है।

कुछ लोग लक्ष्मी को अवतार या परिणाम रूप उपाधि से भिन्न भगवदंश मानते हैं। यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणवचन से यह सिद्ध है कि लक्ष्मी आदि का पृथक् नित्य शरीर है। यह भी सर्वत्र (कान्तः ते आदि) व्यधिकरण प्रयोग से सूचित है।

ऐसा समानाधिकरण प्रयोग है 'कि कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणाम्।' इस

पूर्वापरवत्स्वरूपभेदेऽपि संबन्धविशेषनिबन्धनः । *विष्णोश्श्रीरनपायिनीत्यादिभिर्व्यधिकरणप्रयोगैश्च भेदस्सिद्धः । तर्ह्यग्रचप्रायन्यायात् सहपठितनार्यन्तरवत् कर्मवश्यत्वं स्यात् । न स्यात्, वचनविरोधे न्यायस्यानवकाशात् ।न चेदेवम् *आदित्यानामहं विष्णुः, *वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि, *अनन्तश्चास्मि नागानां वैनतेयश्च पक्षिणामित्यत्र कुतस्तथात्वनिस्तारः ? निर्धारणादिति चेन्न । साजात्येऽपि वैषम्यमात्रेण तदुपपत्तेः ईश्वरत्वक-

---

प्रयोग से मालूम पड़ता है कि कीर्ति, श्री, वाक् ये अभिन्न हैं। ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि कीर्ति, श्री और वाक् में स्वरूपैक्य नहीं है। किन्तु सम्बन्ध विशेष को लेकर यहाँ सामानाधिकरण्य है। 'विष्णोः श्रीरनपायिनी' इत्यादि व्यधिकरण प्रयोगों से भेद सिद्ध है। तब एक आपत्ति आती है कि 'अग्रच प्रायन्याय' से इनके साथ पटित अन्य नारियों की तरह लक्ष्मी का भी कर्मवश्यत्व आ जायगा। नहीं आवेगा। क्योंकि वचन के विरोध में न्याय का अवकाश कैसे होगा। वचन तो कहता है लक्ष्मी कर्मवश्य नहीं है। यदि ऐसा न मानें तो, 'आदित्यानामहं विष्णुः' 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' 'अनन्तश्चास्मि नागानां वैनतेयश्च पक्षिणाम्' आदि स्थलों में इस आपत्ति से कैसे बचेंगे। आदित्य, वृष्णि आदि तो कर्मवश्य हैं। उनमें एक होने के कारण भगवान कृष्ण को भी कर्मवश्य मानना पड़ेगा। अतः जहाँ स्पष्ट वचन है वहाँ न्याय से उस वचन के विरुद्ध अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है।

र्मवश्यत्वाकर्मवश्यत्वादौ तु प्रमाणान्तरमेव शरणमिति। इदं चास्याः कर्मवश्यवैजात्यमिह ब्रह्मादिभ्योऽप्यधिकत्वोक्त्या प्रकाशितम्। नन्वर्ध-लक्ष्मीकविग्रहयोगः श्रीपतेः श्रियश्च विग्रहैक्यं स्वरूपैक्यं भेदाभेदं वा सूचयति। उक्तञ्च श्रीविष्णुवैभवाधिकारैः—*त्वं यादृशोऽसि कमलामपि तादृशीं ते दारान् वदन्ति युवयोर्न तु भेदगन्धः। मायाविभक्तयुवतीतनुमे-कमेव त्वां मातरं च पितरं च युवानमाहुः॥ इति। तन्न, उभयेच्छया

ईश्वरत्व-अनीश्वरत्व, कर्मवश्यत्व-अकर्मवश्यत्व आदि विषय में अन्य प्रमाण का ही शरण लेना है। यहाँ ब्रह्म आदि से भी आधिक्य कहने से श्री लक्ष्मी जी का अकर्मवश्यत्व स्पष्ट है।

फिर एक आशङ्का उठती है कि अर्ध लक्ष्मी विग्रह का योग श्रीपति और श्री के विग्रह की एकता, स्वरूप का ऐक्य अथवा भेदाभेद को सूचित करता है। श्रीविष्णुवैभवाधिकार ने कहा है—

त्वं यादृशोऽसि कमलामपि तादृशीं ते
दारान् वदन्ति युवयोर्न तु भेदगन्धः।
मायाविभक्तयुवतीतनुमेकमेव
त्वां मातरं च पितरं च युवानमाहुः॥

अर्थात्, आप जिस प्रकार के हैं, आप की पत्नी कमला भी उस प्रकार की हैं। आप दोनों में भेद का गंध भी नहीं है। आप ही माया से विभक्त होकर

विग्रहमात्रस्यैकीकरणसंभवेनान्यथाप्युपपन्नतया विग्रहैक्यस्य श्रुत्यादिविरुद्धस्वरूपैक्यादिकल्पकत्वायोगात्। तथाप्येकेनैव परमात्मना यथाकथञ्चित्सर्वनिर्वाहे किमत्रात्मभेदस्वीकारेणेति चेन्न, क्लृप्तौ वक्तव्यस्य श्रुतौ वक्तुमयुक्तत्वात्। उक्ता च श्रुतिः प्रागेव। तदनुगुणं च **श्रीविष्णुस्मृतौ** भूमिवाक्यम् *आक्रम्य सर्वां तु यथा त्रिलोकीं तिष्ठत्ययं देववरोऽसिताक्षि। तथा स्थिता त्वं वरदे तथापीत्यादिकम्। *नानयोर्विद्यते

युवती के तनु का धारण करते हैं। इस प्रकार माया से विभक्त शरीर वाले आप को ही माता, पिता और युवा कहते हैं।

इस आशङ्का का समाधान है—यहां कहा हुआ विग्रहैक्य स्वरूपैक्य का सूचक नहीं है। क्योंकि दोनों का स्वरूपैक्य श्रुतिविरुद्ध है। दोनों की इच्छा से इन के विग्रहमात्र एक होता है। अतः स्वरूपैक्य कल्पना उचित नहीं है। फिर यदि पूछा जाता है कि एक परमात्मा से ही किसी प्रकार सभी का निर्वाह हो जाता तो यहां आत्मभेद का स्वीकार क्यों करना ? उत्तर है कि कल्पना करना हो तो लाघव गौरव देखा जा सकता है। श्रुति में लाघव गौरव की बात क्या है। श्रुति जो कहती है उसे वैसे ही लेना है। श्रुति पहले ही बताई गई है। इस श्रुति के अनुगुण श्रीविष्णु स्मृति में भूमिवाक्य

आक्रम्य सर्वां तु यथा त्रिलोकीं तिष्ठत्ययं देववरोऽसिताक्षि।
तथा स्थिता त्वं वरदे तथाऽपि··· ········ ··· ···॥

इत्यादि है। अर्थात् हे नील नेत्र वाली लक्ष्मी, जिस प्रकार यह देव श्रेष्ठ नारयण तीनों लोकों को व्याप्त करके रहते है वैसे, हे वरदे आप भी

परमित्यादिभिः पुराणवचनैः, *एकतत्त्वमिवोदितौ इत्यादिभगवच्छास्त्रवचनैश्च स्वरूपैक्यमनयोरपास्तम् । लाघवतन्मात्रावलम्बने तु सर्वेषामप्यात्मनामैक्यं प्रसजेत् ।

आत्मभेदमनिच्छन्तो भाष्यादिषु निराकृताः ।
दिव्ययोस्त्विह दम्पत्योः मिथो भेदः प्रसाधितः ॥
सर्वेषामात्मनां यैस्तु भिन्नाभिन्नत्वमिष्यते ।
लक्ष्मीनारायणैक्योक्तिः तेषां सद्भिरुपेक्ष्यते ॥
यत्र क्वचिदभेदोक्तिर्यद्याप्तवचने भवेत् ।
रामसुग्रीवयोरैक्यमित्यादिवदिहास्तु सा ॥

(व्याप्त करके) रहती हैं । 'न अनयोः विद्यते परम्' आदि पुराणवचनों से तथा 'एकतत्त्वमिवोदितौ' आदि भगवच्छास्त्र वचनों से इन दोनों का स्वरूपैक्य खण्डित है । अनेक आत्मा से एक आत्मा के लाघवमात्र को देखें तो सभी आत्माओं का ऐक्य प्रसक्त होगा ।

आत्मभेद—जीवात्माओं में परस्पर भेद न मानने वाले भाष्य आदि से ही निराकृत हो गये । यहां दिव्यदम्पति नारायण और लक्ष्मी का परस्पर भेद हमने सिद्ध कर दिया । संत सज्जन उनके वचन की उपेक्षा करते है, जो सभी आत्माओं का भेदाभेद मानते हैं, और लक्ष्मी तथा नारयण का ऐक्य कहते है ।

अत्र निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मस्वरूपतिरोधानकरी मिथ्याभूता मायैव कल्पितरूपविशेषोपश्लिष्टब्रह्मप्रतिच्छदवती लक्ष्मीरित्युच्यते इति पक्षोऽपि तादृशब्रह्मतत्तिरोधानादिनिरासादेव निर्धूतः। इदमप्यत्र मायायाः प्रस्तुतदम्पतिव्यतिरिक्तजगन्मोहनत्वोक्त्या प्रख्यापितम्। ननु यवनिका बहिरन्तस्स्थलयोः दृष्टिप्रसरनिरोधेन मिथोऽवलोकनविरोधिनी लोके दृष्टा। अतः श्रियोऽपि यवनिका तथा स्यात्। मैवम्, तदधीनसर्वव्या-

---

आप्त लोगों ने कहीं अभेद कहा हो तो उस का तात्पर्य 'रामसुग्रीवयोरैक्यम्' आदि में जैसे लेना चाहिए। राम और सुग्रीव में स्वरूपैक्य तो हो ही नहीं सकता। भाव आदि ऐक्य ही हो सकता है।

और एक पक्ष—असत्यभूत माया ही निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वरूप का तिरोधान करती है, कल्पित एक रूप लेकर ब्रह्म से सम्बद्ध होकर उसका आच्छादन करती है। वही लक्ष्मी है। यह पक्ष भी निरस्त है क्यों कि माया से सम्बद्ध ब्रह्म, उसका तिरोधान आदि तो खण्डित हो गया। यह बात यहां के इस कथन से खण्डित हुई कि दिव्यदंम्पति से अतिरिक्त जगत को ही माया मोहित करती है।

फिर एक शङ्का उठती है कि बाहर और भीतर रहने वालों के दृष्टिप्रसार को रोकते हुए परस्पर अवलोकन में बाधा पहुँचाने वाली है यवनिका। तब श्री के लिए भी यवनिका ऐसी ही होगी। यह शङ्का निराधार है; क्योंकि माया

पारया मायया तस्यास्सर्वविषयसहजदृष्टिनिरोधायोगात् । क्षेत्रज्ञानामपि भगवन्मायया धीसङ्कोचस्य दुष्कृतोपाधिकत्वात् अकर्मवश्येषु नित्यमुक्तेश्वरेषु तत्प्रसङ्गाभावादिति । अस्तु तर्हि कर्मवश्यतादात्म्यात्कर्मफलान्वयः, ब्रह्मादीनां कर्मवश्यत्वं तावत् *युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः । पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुम ॥ इत्यादिभिः प्रसिद्धम् ।

का सभी कार्य लक्ष्मी के अधीन है । उनके अधीन होकर, उनकी दृष्टि को जो सर्वत्र सहज रूप से प्रवृत्त होती है यह माया कैसे रोक सकती है ? माया से जीवात्माओं की बुद्धि का सङ्कोच जो होता है उसका कारण उन का पाप है । कर्म के वश्य जो नहीं होते हैं, जो नित्यमुक्त है, ईश्वर है उन में पाप का प्रसङ्ग ही कहां है ? जिसके कारण लक्ष्मी जी की दृष्टि की मायारूपिणी यवनिका रोक सके ।

फिर शङ्का करते है कि कर्मवश्य होने के कारण कर्म के फल से सम्बन्ध होता है । ब्रह्मा आदि भी कर्मवश्य ही है । इसमें प्रमाण है—

युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः ।
पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुम ॥

इत्यादि । इस श्लोक का अर्थ है—सुनते है कि पद्मपुष्प में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा ने अनेक सहस्र कोटि वर्ष विष्णु का आराधन कर फिर भी तीनों लोकों के धातृत्व को प्राप्त किया । ब्रह्मा की स्थिति यह है तो इन की और

किंपुनस्तत्पत्नीनाम् । ताभिश्च तादात्म्यमस्यास्तत्र तत्र विशेषतस्तत्तत्सामानाधिकरण्येन व्यज्यते । गायत्रीकल्पेषु च सन्ध्यात्रये वर्णवाहनादिवि-

---

शिव आदि देवों की पत्नियों के विषय में क्या कहना ? सरस्वती आदि देवियों से इन का जो तादात्म्य है वह विशेषरूप से उन उन देवियों से तादात्म्य प्रतिपादन से व्यक्त होता है । गायत्रीकल्पों में एक ही देवता का रूपत्रय पृथक् वर्ण, वाहन आदि के साथ वर्णित है ।

प्रातर्ध्यायामि गायत्रीं रविमण्डलमध्यगाम् ।
ऋग्वेदमुच्चारयन्तीं रक्तवर्णां कुमारिकाम् ।।
अक्षमालाकरां ब्रह्मदैवत्यां हंसवाहनाम् ।।

मध्यं दिने तु सावित्रीं रविमण्डलमध्यगाम् ।
यजुर्वेदं व्याहरन्तीं श्वेतां शूलकरां शिवाम् ।।
युवतीं रुद्रदैवत्यां ध्यायामि वृषवाहनाम् ।।

सायं सरस्वतीं श्यामां रविमण्डल मध्यगाम् ।
सामवेदं व्याहरन्तीं चक्रायुधधरां शुभाम् ।।
ध्यायामि विष्णु देवत्यां वृद्धां गरुड वाहनाम् ।।

गायत्री प्रात: काल में कुमारी है, नाम गायत्री है । उसका वर्ण रक्त है, ऋग्वेद का उच्चारण करती है, हाथ में अक्षमाला धारण किया हुआ है, हंस वाहन है । मध्याह्न में युवती है, नाम सावित्री है । यजुर्वेद का उच्चारण करती है ; रंग

शेषितं रूपत्रयमेकस्या एव देवतायाः प्रतिपाद्यते । उक्तं च कैश्चित् **लक्ष्मीस्तोत्रे**—*गीर्देवतेति गरुडध्वजवल्लभेति इत्यादिभिः । अतः कर्मवश्यतादात्म्याद्यवनिकारूपितमायातिरोहितज्ञानत्वमस्या उपपद्यत इति । तदसत् । विशेषतस्सामानाधिकरण्यस्य *यद्यद्विभूतिमत्सर्वमित्युक्तेन विभूत्यध्याय-

---

सफेद है; हाथ में शूलायुध का धारण किया हुआ है; वृषभ पर आरूढ है। सायंकाल में वृद्धा है; रंग श्याम है; सामवेद का उच्चारण करती है। चक्रायुध-धारण किया हुआ है। नाम सरस्वती है। गरुड वाहन है।

लक्ष्मीस्तोत्र में कहा है– 'गीर्देवतेति गरुडध्वजवल्लभेति' अर्थात् गरुडध्वज नारायण की पत्नी वाक् की देवता (सरस्वती) है। अतः लक्ष्मी के कर्मवश्य सरस्वती आदि से तादात्म्य होने कारण ये भी कर्मवश्य ही है। इसलिए यवनिका के रूप में प्रतिपादित माया से इन का ज्ञान तिरोहित है।

ऐसा कहना ठीक नहीं है। विशेष रूप से जो सामानाधिकरण्य बताया गया है उसका निर्वाह विभूत्यध्याय में 'यद्यत् विभूतिमत् सर्वं' इत्यादि में उक्त न्याय से करना है। तात्पर्य है कि 'सरस्वती, पार्वती आदि विशिष्ट व्यक्तियों में महालक्ष्मी का अंश है। उस अंश को लेकर सामानाधिकरण्य कहा जाता है। इस से यह सिद्ध नहीं होगा कि सरस्वती कर्मवश्य है; अतः लक्ष्मी भी कर्मवश्य है। ऐसा मानेंगे तो यह भी मानना पड़ेगा कि कर्मवश्य सूर्य चन्द्र आदि की तरह भगवान् वासुदेव भी कर्मवश्य हैं; क्योंकि उन्होंने कहा कि 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' 'नक्षत्राणामहं शशी'। तापनीयोपनिषद् में, और

न्यायेन निर्वाहात्। **तापनीयोपनिषदि घृतसूक्ते** च लक्ष्म्यास्ते ते शब्दा अपि निरुक्तिविशेषैतत्तद्विभूतियोगेन वा नेतव्याः। गायत्रीकल्पानां तु **लक्ष्मीविभूति**भूताया एव गायत्र्याख्याया देवतायास्सन्ध्याभेदेन वैष्णव्यादिसमाख्यानुगुणवाहनरूपादिपरिग्रहशक्त्या माहात्म्यवर्णने तात्पर्यं तत्र तत्र व्यक्तम्। तादृशाश्च वाहनादयोऽन्ये स्युः। न हि सारूप्य मात्रेण त एवैते इति निश्चयः, अनेकेषामेकजातीयवाहनादिदर्शनात्।

द्रुहिणादिषु केषाञ्चिदीश्वरव्यक्तिताभ्रमात्।
तत्पत्नीष्वपि लक्ष्म्यंशवादः श्रुत्यादिबाधितः॥

घृतसूक्त में लक्ष्मी अनेक भिन्न-भिन्न शब्द से अभिहित से। इन शब्दों का नयन निर्वचन विशेष से, अथवा उनकी विभूति के योग से करना है। गायत्री कल्पों का तात्पर्य इस में है कि लक्ष्मी की विभूति भूत गायत्री नामक देवता की शक्ति इतनी है कि प्रातः, मध्याह्न तथा सायं सन्ध्या में ब्राह्मी, रौद्री, वैष्णवी नामों के अनुगुण हंस, वृषभ, गरुड़ वाहनों का एवं रक्त, श्वेत और श्याम वर्णों का धारण करती है। इस प्रकार यहाँ गायत्री देवी की महिमा का वर्णन किया जाता है। उस तरह का वाहन और भी हो सकते हैं। उनका सारूप्य मात्र से यह निश्चय नहीं कर सकते कि वे ही ये हैं। कई लोग एक ही जाति के वाहन आदि रखते हैं।

द्रुहिणादिषु—ब्रह्मा आदि देवों के विषय में कुछ लोगों का भ्रम है कि वे ईश्वर हैं। इससे उनकी पत्नी सरस्वती आदि लक्ष्मी हैं। इस प्रकार वाद करना श्रुति स्मृति आदि से बाधित है।

एतदभिप्रायेण ह्यत्रोक्तम् **सदयितस्त्वद्दासदासीगण** इति। *अस्त्वेवं, तथापि स्त्र्यंशमात्रापेक्षयैव श्रियो विभूतिमत्त्वमस्तु, **ब्राह्मवैष्णवादि** पुराणेषु तथा दर्शनात्। अतः श्रीमत एव सर्वविभूति-शेषित्वमिति। अत्र ब्रूमः—*दासभूतास्स्वतस्सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः इत्यादिभिस्सर्वेषामात्मनां परमात्मदासत्वसिद्धेः *जायापत्योर्न विभागः इति न्यायात्पतिदासानां पत्नीदासत्वमवर्जनीयम्। नन्वेवं पत्न्या अपि पतिदासत्वे सति तां प्रति दासानां दासत्वमयुक्तं स्यात्। तन्न, लोके वेदे वा

इस अभिप्राय से तो यहां कहा—सदयितः त्वद्दासदासीगणः।

अस्तु। ऐसा ही मानते हैं। किं तु विभूतियों में जो स्त्री का अंश है उसी को लेकर श्री को विभूतिमत्त्व मानें। ब्राह्म-वैष्णव आदि पुराणों में वैसे ही कहा है। अतः श्रीमान नारायण में हि सर्वविभूति शेषित्व है।

इस का समाधान है—

दासभूतास्स्वतस्सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः

अर्थात् सभी आत्मा स्वत एव परमात्मा के दास हैं आदि प्रमाणों से सिद्ध है कि सभी आत्मा परमात्मा के दास हैं। 'जायापत्योर्न विभागः' 'पति और पत्नी में विभाग अर्थात् भेद नहीं है' न्याय से पति के दासों के लिए पत्नी का दासत्व अवर्जनीय है।

फिर एक आपत्ति की जाती है कि पत्नी भी पति की दासी है तो, उस

क्वचिदपि पत्न्याः पतिं प्रति दासत्वाभावात् । अत एव हि *यदा यदा हि कौसल्या दासीवच्च सखीव चेति दृष्टान्ततयोच्यते । *अहं शिष्या च दासी च भक्ता च तव माधवेति भूमिवचनमप्युपचारतो नेयम् । यद्यपि पत्नीनां पतिदासत्वं, तथाऽपि पतिदासान्तराणां तद्दासत्वमपि यथालोकं युज्यते । अस्ति च सर्वेषां भगवद्दासत्वेऽपि तत्तदुपाधिभिः मिथो दासत्वम् । इह त्वेकयैवेच्छया विभूतिद्वयस्य नित्यमुभयार्थतयोपात्तत्वाद्देवताद्वन्द्वह-

---

दासी के दास दूसरे कैसे होंगे ? क्योंकि पत्नी स्वयं दासी है । यह आपत्ति भी टिक नहीं सकती । लोक में या वेद में कहीं भी पति के प्रति पत्नी का दासत्व नहीं कहा है । इसलिए यह दृष्टान्त के रूप में कहा है—'यदा यदा हि कौसल्या दासीवच्च सखीव च ।' (दासी की तरह, सखी की तरह)

'अहं शिष्या च दासी च भक्ता च तव माधव'

भू देवी का यह वचन भी उपचार वचन है । वास्तवदासी कहने में तात्पर्य नहीं है ।

पत्नियों का पतिदासत्व मान भी लिया जाय तो भी पति के अन्य दासों का इन के प्रति दासत्व युक्त ही है । लोक में यह देखा जाता है । सभी में भगवद्दासत्व है । तो भी उन उन उपाधियों से परस्पर दासत्व भी उन में है । यहां एक ही इच्छा से नित्य और लीला विभूति को सदा दोनों के लिए लिया है । अतः देवताद्वन्द्वहविर्न्याय से ब्रह्मा आदि देवों का उभयशेषत्व उचित ही है ।

विन्र्यायेन ब्रह्मादीनामुभयशेषत्वं युक्तमेव । गद्या दिषु विभूतिमध्ये तस्याः पाठोऽपि पारार्थ्यमात्रसाम्यादुपपन्नः ।

आत्मान्तराणां सर्वेषां लक्ष्मीतत्पतिदासताम् ।
मकारस्तु तयोर्दास इति केचिदधीयते ॥

एवं सति भगवत्पत्न्यन्तरापेक्षया ब्रह्मादीनां दासत्वं भवतु वा मा वा, उक्तं तावदुपपन्नम् । अतः *पुन्नामा भगवान् हरिः, *स्त्रीनाम्नी

अग्नीषोमीय पशु कहने पर 'अग्नि सोम रूप देवताद्वन्द के लिए पशु' यह अर्थ तो निकलता है । गद्य आदि में विभूतियों के बीच लक्ष्मी का जो पाठ है वह भी इस प्रकार उपपन्न है कि पति के शेष सभी हैं ।

आत्मान्तराणां सर्वेषां लक्ष्मीतत्पतिदासताम् ।
मकारस्तु तयोर्दास इति केचिदधीयते ॥

कुछ लोग सभी आत्माओं का लक्ष्मी और उनके पति का दासत्व मानते हैं । मकार जीव तो उन दोनों के दास है । ऐसी स्थिति में ब्रह्मा आदियो का भगवान की अन्य पत्नियों के प्रति दासत्व हो या न हो, जो यहाँ बताया गया वह तो उपपन्न ही है । अतः

'पुन्नामा भगवान् हरिः'
भगवान हरि पुरुष नामक हैं ।
'स्त्री नाम्नी लक्ष्मीः मैत्रेय'
हे मैत्रेय लक्ष्मी स्त्री नामक है ।

लक्ष्मीर्मैत्रेय *यो यो जगति पुम्भावस्स विष्णुरिति निश्चयः। यो यस्तु नारीभावस्स्यात् तत्र लक्ष्मीर्व्यवस्थिता ॥ इत्याद्युक्तो विभूतिविभागस्तु लौकिकदम्पत्योर्यथोचितविनियोगानुगुणभूषणादिविभागवन्नित्येच्छानियमितविशेषाभिमानार्थ इत्यभिप्रायेण फणिपत्यादीनामप्यत्र लक्ष्मीशेषत्वोक्तिरिति। केचित्तु नानाविधवादिविप्रतिपत्तिमोहितास्सर्वथा दुर्निरूपं लक्ष्मीतत्त्वमिति मन्यन्ते। तेऽप्येवमिह निरूपणेन निर्धूताः। किञ्च सदसदनिर्वचनीयत्वादिरूपदुर्निरूपत्वं तत्तन्मतनिरासादेव निरस्तम्। येनकेनचिदाकारेण दुर्निरूपत्वं तु सर्वत्रापि संभवति, उपयुक्तांशनिरूपणस्यापि संप्रतिपन्नसाम्यान्नात्र विशेष इति ॥ १ ॥

'यो यो जगति पुंभावः स विष्णुरिति निश्चयः'।
यो यस्तु नारी भावः स्यात् तत्र लक्ष्मी व्यर्वस्थिता'।

जगत् में जो पुरुष स्वभाव का है वह विष्णु है, जो नारीभाव का है वहाँ लक्ष्मी स्थित है।

इत्यादि में उक्त विभूति विभाग, लौकिक पति पत्नियों में स्थित औचित्य के अनुसार विनियोग करने अनुगुण भूषण आदि के विभाग की तरह, अपनी नित्येच्छा से नियमित विशेष अभिमानार्थ है। इस अभिप्राय से ही यहाँ आदि शेष आदि को भी लक्ष्मी के शेष कहा है।

वादियों की कई प्रकार की विप्रतिपत्तियों से मोहित कुछ लोग सोचते है

यस्यास्ते महिमानमात्मन इव त्वद्वल्लभोऽपि प्रभु-
र्नालं मातुमियत्तया निरवधिं नित्यानुकूलं स्वतः
तां त्वां दास इति प्रपन्न इति च स्तोष्याम्यहं निर्भयो
लोकैकेश्वरि लोकनाथदयिते दान्ते दयां ते विदन् ॥

कि लक्ष्मीतत्त्व दुर्निरूपणीय है। ऊपर किए हुए निरूपण से वे भी परास्त है सदसदनिर्वचनीयत्व से दुर्निरूप-अर्थात् किसी वस्तु का निरूपण करना तो कह है कि वह वस्तु सत् है या असत् है। लक्ष्मी तत्त्व तो सत् या असत् ऐसा निर्वच करने योग्य नहीं है, अतएव दुर्निरूप है। यह मत भी उन उन मतों का निराकर करने से ही निरस्त है। किसी एक आकार से दुर्निरूपत्व सर्वत्र हो सकता है

श्लोकार्थ

हे सभी लोकों की एकमात्र ईश्वरि! लोकनाथ की प्रिये, आपकी असीम स्वतः सर्वदा अनुकूल स्वभाव (महिमा का परिच्छेद करके जानना, सर्वशक्त आप के पति के लिए भी अपनी महिमा की तरह कठिन है। इसे जानते हुए भी भय के बिना आपकी स्तुति में प्रवृत्त हूँ। क्योंकि मैं आपका दास हूँ; प्रपन्न हूँ और आपकी दया को भी जानता हूँ।

अथ * कथं ब्रूम इति ।स्तुत्यारम्भाक्षेपहेतुतयोदाहृतं स्तोतव्यगसमुत्कर्षं मुखान्तरेण दृढीकुर्वन्नेव तदुपश्लिष्टं सौलभ्यविशेष (गुण) मनुसन्धाय स्तोतृगतदयनीयदशानिरूपणेन हेतुना स्तुत्यारम्भं समाधत्ते-यस्या इति ॥ यस्या इत्येतावता पर्याप्तेऽप्यत्र त इत्यधिकोपादानं धर्मिग्राहकमानसिद्धासाधारणविशेषद्योतनार्थम् । महिमानं विभूतिद्वयशेषित्वरूपं निरतिशयानुकूलगुणयोगरूपं च । आत्मन इव-स्वस्येव । त्वद्वल्लभः-त्वत्प्रियतमः । प्रभुः-सर्वविषयज्ञानशक्त्यादिमान् । प्रभुरपीत्यन्वयः । अपिरनुक्तसमुच्चयार्थो वा, त्वं च त्वद्वल्लभश्चेत्यर्थः ॥

विशेषार्थ

स्तोत्र के आरम्भ में 'कथं ब्रूमः' कहकर स्तोतव्य भगवती का उत्कर्ष प्रकट किया। इस श्लोक में उसी उत्कर्ष को अन्य प्रकार से प्रकट करते हैं। साथ-साथ श्री में स्थित सौलभ्य गुण का अनुसन्धान कर, दया करने योग्य अपनी दशा का भी निरूपण कर इसी कारण से स्तुति आरम्भ करने का औचित्य को बताते हैं। यहाँ 'यस्या' इतना ही पर्याप्त है। किन्तु 'ते' भी कहने का तात्पर्य है कि लक्ष्मी में प्रमाणों से सिद्ध विशेषता का प्रतिपादन करना।

महिमानम्—नित्य और लीला विभूति दोनों का शेषित्व तथा अत्यन्त अतिशय अनुकूल गुणों का योग। महिमा का यह तात्पर्य है।

त्वद्वल्लभः—आपके प्रियतम। **प्रभुः**—सभी विषयों के ज्ञानी, सर्व शक्तिमान। अपि शब्द का अर्थ दो प्रकार से कर सकते हैं। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान

नालं मातुमियत्तया-परिच्छिद्यानुसंधातुमसमर्थः । सर्वशक्तेः क्वचित्कथ
मसामर्थ्यमित्यत्राह-**निरवधिमिति** । विषयस्यापरिच्छिन्नत्वात् त
सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपि परिच्छिन्नत्वज्ञानाभावो न दोष इति भावः
यथोक्तं **श्रीवत्साङ्कमिश्रैः**—*देवि त्वन्महिमावधिर्न हरिणा ना
त्वया ज्ञायते यद्यप्येवमथापि नैव युवयोस्सर्वज्ञता हीयते इति । ईदृश

नारायण भी आपकी महिमा को पूर्णरूपेण नहीं जानते; आप भी नहीं जानतीं,
के पति भी नहीं जानते । **नालं मातुमियत्तया**-परिच्छेद (सीमित) कर अनुसन्ध
करने में असमर्थ । सर्वशक्त किसी विषय में असमर्थ कैसे ? कारण कहते
'निरवधिम्' । विषय अपरिच्छिन्न है । अर्थात् किसी माप में आने वाला नहीं
असीम है । अपरिच्छिन्न वस्तु में परिच्छिन्नत्वज्ञान का अभाव दोष कैसे होग
श्रीवत्साङ्कमिश्र ने कहा है—

देवि त्वन्महिमावधिर्न हरिणा नापि त्वया ज्ञायते
यद्यप्येवमथापि नैव युवयोः सर्वज्ञता हीयते ।
यन्नास्त्येव तदज्ञतामनुगुणां सर्वज्ञताया विदुः
व्योमाम्भोजमिदंतया खलु विदन् भ्रान्तोऽयमित्युच्यते ।।

अर्थात् हे देवि, आप की महिमा की सीमा को हरि भी नहीं जानते,
भी नहीं जानती हैं । तथाऽपि आप दोनों की सर्वज्ञता की कोई हानि नहीं
क्यों कि जो नहीं है उसे न जानना सर्वज्ञता के अनुरूप ही है । कोई वस्तु नह

महिमा **वेदार्थसङ्ग्रहेऽप्युक्तः**—*अनवधिकमहिमा महिषीति। विवृतश्च **गद्यारम्भे** *भगवन्नारायणेत्यादिना। श्रद्धासूक्तमेधासूक्तादिति-सूक्तवाक्सूक्तादिष्वेतद्विभूतिविशेषप्रतिपादकेषु विशेषतः श्रीसूक्ते च विचित्रा एतन्महिमानस्तत्तद्भाष्यकारैः प्रपञ्चिताः प्रतिपत्तव्याः। अस्या महिम्नः प्राप्यान्तर्भावज्ञापनाय नित्यनिरुपाधिकानुकूलत्वमाह **नित्या-**

तो उसे 'नहीं है' जानना ही सच्चा ज्ञान है। जो नहीं है उसे 'यह वस्तु है' ऐसा जानना अज्ञान है। आकाश में कमल नहीं होता है। कोई यह कहे कि आकाशकमल को मैं जानता हूँ; वह इस परिमाण का है; इस गन्ध का है तो वह भ्रान्त कहा जाता है।

ऐसी महिमा वेदार्थ संग्रह में भी वर्णित है—'अनवधिकमहिमा महिषी।' शरणागति गद्य के आरम्भ में श्री भगवन्नारायणाभितानुरूप स्वरूप रूप गुण विभवैश्वर्यशीलाद्यसङ्ख्येय कल्याण गुणगणाम्' आदि से विवृत है। अर्थात् भगवान नारायण के अभिमत एवं उनके अनुरूप स्वरूप, रूप, गुण, विभव, ऐश्वर्य, शील आदि अनगिनित कल्याण गुणों से युक्त। इनके विभूति विशेषों का प्रतिपादन करने वाले श्रद्धा सूक्त, मेघासूक्त, अदितिसूक्त, वाक् सूक्त आदियों में विशेषकर श्री सूक्त में इनकी विचित्र महिमा उन सूक्तों के भाष्यकारों से वर्णित हैं। उन्हें समझ लेना है।

नुकूलं स्वत इति । तां-सर्वज्ञसाक्षिकतादृशमहिमानम् । त्वां महत्त्व सङ्गतसौलभ्यगुणयोगात् मदीयस्तोत्रश्रवणकौतुकेनाभिमुखीभूताम् । दास इति प्रपन्न इति च—प्रतिबुद्धदासभावत्वात्, प्रपन्नत्वाच्चेति भावः उभयमिदं सम्भूय* प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे इत्यादिन्यायेन निर्भयत्वे हेतुः

पृथुगद्यमुखेऽस्माभिः श्रीप्रपत्तिरियं सताम् ।
श्रीपतौ स्थितमैकान्त्यं न विहन्तीति साधितम् ॥

नित्यानुकूलं स्वतः—इनकी महिमा सर्वदा अनुकूल है। किसी कारणवश अनुकूल नहीं, स्वभाव से अनुकूल है। यह महिमा प्राप्य में अंतर्भूत है। नित्यानुकूल ही प्राप्य है।

तां—तादृश महिमा वाली, जिसके साक्षी सर्वज्ञ भगवान हैं

त्वां—महत्व से युक्त सौलभ्य गुणवती होने के कारण मेरे स्तोत्र के सुनने में तत्पर।

दास इति प्रपन्न इति च—दास भाव अच्छी तरह उद्‌बुद्ध है; प्रपन्नत्व भी है। ये दोनों 'प्रेष्यस्य क्षमितव्यं में' इत्यादि न्याय से निर्भयत्व के हेतु हैं प्रेष्य-दास।

यहाँ एक सन्देह-होता है कि जो परमैकान्ती है, नारायण मात्र परायण वे उनसे भिन्न श्री की प्रपत्ति कैसे कर सकते हैं। इसका उत्तर 'पृथु' श्लोक

स्तोष्याम्यहं निर्भयः—अनाद्युपचितापराधस्त्वन्महिमस्तोत्रानुगुणज्ञानशक्तिरहितश्चाहं नित्यसूरिभिः निगमैश्च कात्स्न्र्येन स्तोतुमशक्यां त्वां प्रतिबुद्धदास्यप्रपन्नत्वव्याजेन निर्भयस्स्तोष्यामीत्युक्तं भवति । एवं स्तोत्राक्षेपतत्समाधानव्याजेन प्रवृत्तमपि श्लोकद्वयमिदं

देते हैं –महापुरुष जो श्री की प्रपत्ति का अनुष्ठान करते है वह उनके पारमैकान्त्य का भङ्ग नहीं करता। इसे हमने शरणागतिगद्य के भाष्य के आरम्भ में सिद्ध किया है ।

शरणागति गद्य के आरम्भ में 'श्रियं प्रपद्ये' ऐसा श्रीप्रपत्ति कही हुई है । इसकी व्याख्या करते हुए देशिक स्वामी अपने भाष्य में लिखते हैं—

मुमुक्षु को भगवत्प्रपत्ति ही करनी चाहिए । यदि मुमुक्षु भगवान को छोड़कर किसी अन्य की प्रपत्ति करते हैं तो उनका ऐकान्त्य का भङ्ग होता । ऐसी बात नहीं है । क्योंकि भगवत्प्रपत्ति के लिए ही श्री की प्रपत्ति की जाती है । जैसे उपासन की सिद्धि के लिए कर्मयोग किया जाता है। अतः यह श्रीप्रपत्ति ऐकान्त्य में दृढता ही लाती है । विष्णुभवन के विष्णु परिकरो के अर्चन से उनके ऐकान्त्य का भङ्ग नहीं होता । घटक के रूप में लक्ष्मी जी की प्रपत्ति करने में भी दोष नहीं है । 'चन्द्रां प्रभासाम्' मन्त्र में अलक्ष्मी के नाश के लिए लक्ष्मी प्रपत्ति कही हुई है । 'ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्' । मोक्ष का कारणभूत विद्या ही लक्ष्मी है । उस विद्या के अभाव का नाश इससे किया जाता है । उसके लिए शरण्याभिप्राय संवादिनी उसकी देवी की प्रपत्ति करना उचित ही है ।

स्तोष्याम्यहं निर्भयः—अनादि काल से मेरे अपराध बढ़ते आ रहे हैं ।

प्रकृष्टस्तुतिरूपमेव । त्वत्प्रपन्नस्य मे न कुतश्चिदप्यनीश्वराद्भयमित्यभिप्राये-
णाह—**लोकैकेश्वरीति** । लोकैकेश्वरः-प्रमाणसिद्धानां सर्वेषामद्वितीय
ईश्वरः। ईश्वरशब्दश्चात्रान्तर्नीतशेषित्वं नियन्तृत्वमभिप्रैति । *पतिं विश्व-
स्येति विश्वशेषित्वेन निर्दिष्टस्य शेष्यन्तरनिवृत्तिविवक्षायामात्मेश्वरमिति
निर्देशात् । * यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर इत्यस्यार्थश्चैवं

आप की महिमा का स्तोत्र करने के अनुगुण ज्ञान और शक्ति भी मुझमें नहीं हैं
केवल प्रतिबुद्ध दास हूँ, और प्रपन्न हूँ । इस व्याज से नित्यसूरियों से ए
वेदों से संपूर्णतया स्तोत्र करने अशक्य आप का स्तोत्र निर्भीक होकर करता हूँ
यद्यपि ये दोनों श्लोक स्तोत्र आरम्भ करने में आक्षेप और समाधान रूप
प्रवृत्त हैं तो भी उत्कृष्ट स्तुतिरूप ही है ।

लोकैकेश्वरि—यह शब्द इस आशय को व्यक्त करता है कि आप के प्रप
होने के कारण मुझको अनीश्वर किसी से भी भय नहीं है । लोकैकेश्वर—
प्रमाणों से सिद्ध सभी के अद्वितीय ईश्वर । यहाँ ईश्वर शब्द में यह तात्प
निहित है कि शेषित्व और नियन्तृत्व इसमें है । 'पतिं विश्वस्य' वाक्यांश
भगवान विश्व के शेषी के रूप में निर्दिष्ट हैं । उस वाक्य के 'आत्मेश्वर' अं
से इस विश्व के दूसरा शेषी कोई नहीं है ऐसा अन्य शेषि की निवृत्ति
जाती है ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वर :' ।

इसका अर्थ गीतार्थसङ्ग्रह में श्रीयामुनाचार्य ने इस प्रकार किया है । 'व्यापन

संगृहीतः—* व्यापनाद्भरणात्स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदित इति। तत्र च भाष्यम्—* व्यापनभरणस्वाम्यैरर्थान्तरतयेति। ईदृशेश्वरपत्नीत्यादिह लोकैकेश्वरीत्युक्तम्। एतेन * पुंस्प्रधानेश्वरेश्वरीति समाख्याऽपि गतार्था। त्वत्प्रसादे सति सर्वेश्वरादपि मे भयं नास्तीत्याह—**लोकनाथदयित** इति। दयिताशब्द इह बल्लभात्वाभिप्रायः। सर्वभयाभयहेतुभूतस्सर्वेश्व-

---

भरणात् स्वाम्यात् अन्यः पञ्चदशोदितः'। सभी में व्याप्त होकर रहना, सभी का भरण करना, सभी को अपने वश में रखना इन कारणों से भगवान परमात्मा अचित से मिश्र अथवा विशुद्ध जीव से भिन्न है। इस प्रकार गीता के पन्द्रहवां अध्याय में कहा है। यहाँ भाष्य है—व्यापन, भरण और स्वाम्य ये गुण परमात्मा में विद्यमान हैं। अतः इन गुणों से विशिष्ट परमात्मा जीव आदि अन्य वस्तुओं से भिन्न है। ईश्वरपत्नी होने के कारण यहाँ लोकैके-श्वरी कहा गया। इस से 'पुंस्प्रधाना ईश्वरा ईश्वरीति समाख्या' अर्थात् ईश्वरा और ईश्वरी समाख्या जो है वह पुंस्त्व प्रधान है। तात्पर्य है कि व्यापन भरण स्वामित्व आदि नारायण को कहा है वह पुरुष धर्म है। वे धर्म श्री में भी हैं। अतः इन्हें ईश्वरी ईश्वरा, कहते हैं।

लोकनाथदयिते—आप का अनुग्रह हो तो सर्वेश्वर से भी मुझ को भय नहीं है। 'वल्लभा' के तात्पर्य में यहाँ दयिताशब्द प्रयुक्त है। भाव है कि सब प्रकार के भय और अभय के कारणभूत सर्वेश्वर भी आप के अभिमत का

रोऽपि त्वदभिमतं नातिक्रामतीति भावः । अनेन संबुद्धिद्वयेन स्तुतिविषयत्वौचित्यातिशयोऽपि सूचितः । ईदृशीं त्वामाश्रितस्य मे त्वत्तोऽपि भयं नास्तीत्याह—दान्ते दयां ते विदन्निति । प्रतिबुद्धदास्यः कृपोत्तम्भकदीनावस्थापन्नः आज्ञातिलङ्घनाद्विरताभिसन्धिः प्रपन्न इह दान्तशब्दाभिप्रेतः । मातृत्वप्रयुक्तवात्सल्यातिशयवत्यास्ते दान्ते पुरुषे भगवत्कारुण्यादप्यतिशयितां दयां जानन्नहमेवं प्रपन्नत्वान्निर्भय इत्यन्वयार्थः । प्रश्रितमात्रपरो वाऽत्र दान्तशब्दः । तावन्मात्रेऽपि हि तस्या

अतिक्रमण नहीं करते हैं । यहाँ श्रीस्तव का यह पद्य उल्लेखनीय है—स्वस्ति श्रीर्दिशतात् अशेषजगतां सर्गोपसर्ग स्थिती : स्वर्गं दुर्गतिमापवर्गिकपदं सर्वं च कुर्वान् हरिः । यस्या वीक्ष्य मुखं तदिङ्गितपराधीनो विधत्तेऽखिलं क्रीडेयं खलु नान्यदास्यरसदा स्याच्चैकरस्यात्तया ।। इन दो संबोधनों से यह भी सूचित है कि श्री को इस स्तुति का विषय बनने में अन्यन्त औचित्य भी है ।

दान्ते दयां ते विदन्—इतनी महिमा शालिनी आप के आश्रित मुझ को आप से भी भय नहीं है । जिसमें दास्यबुद्धि उद्‌बुद्ध है, कृपा का उत्तम्भन अर्थात प्रसारित करने वाली दीन अवस्था में जो हैं, भगवदाज्ञा का उल्लंघन करने की इच्छा जिसमें समाप्त है वह प्रपन्न दान्त शब्द से अभिहित है । यहां अन्वयार्थ है आप माता हैं । अतः मातृत्वप्रयुक्त वात्सल्यातिशय है । इस कारण से दान्त पुरुष में भगवान की करुणा से भी अधिक दया आप रखती हैं । इसे जानते हुए मैं निर्भय हूँ । अथवा यहाँ दान्त शब्द प्रश्रित मात्र परक है । प्रश्रित

विशेषाभिमान: तयैवोक्त: * धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि । प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ।। इति । एवंविधश्च दयाविशेष: * करुणाग्रानतमुखीत्यस्या: समाख्ययैव ख्यापित: । अष्टोत्तरसहस्रनामसु च पठ्यते—* करुणां वेदमातरमिति । करुणाप्रचुरतयाऽसौ करुणात्वोक्ति: ।

पारम्यापह्नव: पत्यौ बाह्यानां मानबाधित: ।
इति ख्यापयितुं श्रीशं श्रीदृष्टान्तमिहाब्रवीत् ।।

मात्र में भी श्री को विशेष अभिमान है । इसे उन्होंने स्वयं कहा है—

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्ववादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ।।

अर्थात् मैं सदा उसमें वास करती हूँ जो धर्मनिरत, अतिबुद्धिमान् ब्रह्मण्य, सत्य बोलने वाला. प्रश्रित और दान शील है। इस तरह का इनका दया विशेष इनकी 'करुणाग्रानतमुखी' समाख्या से ही प्रकट होता है । अष्टोत्तर सहस्रनामों में भी पठित है कि 'करुणां वेदमातरम्' । करुणा गुण प्रचुर मात्रा में होने के कारण करुणा कहा है ।

पारम्यापह्नवः पत्यो वाह्यानां मानबाधित : ।
इति ख्यापयितु श्रीशं श्रीदृष्टान्तमिहाब्रवीत् ।

अर्थात् वाह्य शैव आदि लोग सब के पति श्रीमन्नारायण में स्थित पारम्य अर्थात् परत्व को न मानते है । यह वेद आदि प्रमाणों से बाधित है । इस विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रीश तथा श्री का दृष्टान्त यहां कहा ।

अथ स्यात् *आनीदवातँ स्वधया तदेकमिति प्रलयदशायां स्वधाशब्दवाच्यया कयाचित्परस्य ब्रह्मणोऽननं श्रूयते। सा चात्र *स्वधा त्वं लोकपावनीति पुराणोक्तेः, महाभारते च श्रीवासवसंवादे *अहं स्वाहा स्वधा चैवेति स्वयमेवोक्तत्वादौचित्याच्च लक्ष्मीरेव। अतस्तदधीनप्राणनत्वं ब्रह्मण इति। तन्न, स्वाधीनसर्वसत्ताकस्य तस्यान्याधीनप्राणनत्वासंभवात्। स्वधाशब्दस्य चात्र प्रयोगदर्शनमात्रेण लक्ष्मीविषयत्वकल्पनादपि स्वस्मिन् धीयत इति व्युत्पत्त्या स्वसत्ता-

---

ऐसा एक पक्ष है—

'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'। इस ऋगंश में कहा जाता है कि प्रलयदशा में स्वधा शब्द से अभिहित किसी व्यक्ति से परब्रह्म का प्राणन होता हे। अर्थात् ब्रह्म को जीव दशा में रखता है। वह लक्ष्मी ही है। क्यों कि 'स्वधा त्वं लोक पावनी' इस पुराणोक्ति से एवं महाभारत के श्रीवासव संवाद की 'अहं स्वाहा स्वधा चैव' उक्ति से ऐसा ही मानना पड़ता है। अतः इस लक्ष्मी का अधीन है ब्रह्म का प्राणन (जीवित रहना)।

यह पक्ष समञ्जस नहीं है। सभी वस्तुओं की सत्ता भगवान के अधीन हैं तो उसका प्राणन क्या अन्य किसी का अधीन हो सकता है? यह असम्भव है। स्वधा शब्द लक्ष्मी के अर्थ में महाभारत आदि में प्रयुक्त है। 'आनीदवातं' वाक्य में स्वधा शब्द है। अतः इस वाक्य में स्थित स्वधा शब्द का अर्थ लक्ष्मी

विषयत्वस्य कल्पयितुं युक्तत्वात् । स्वकीयं विश्वधारणसामर्थ्यमेव वा स्वधा । तथा * श्रेष्ठश्चेत्यधिकरणे भाष्यम्—* आनीदवातमिति तु न जैवं श्रेष्ठं प्राणनमभिप्रेत्योच्यते । अपि तु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यत इति। अत्र अनन्याधीनसत्ताकत्वमेव ह्यभिप्रेतम् । अस्तु वा स्वधयेति पदं लक्ष्मीविषयम् । तथाऽपि सहयोगविवक्षैवात्र युक्ता। यथा महाभारते— *कृत्वा मत्स्थानि भूतानि चराणि स्थावराणि च । एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये

है ऐसा कल्पना करते हैं । इस कल्पना से भी यह उचित है कि यह स्वधा शब्द 'स्वस्मिन् धीयते' (अपने में धारण किया जाता है) व्युत्पत्ति से अपनी सत्ता को ही बताता है । अथवा विश्व का धारण करने का अपना सामर्थ्य जो है वह स्वधा है । श्रेष्ठाधिकरण भाष्य में कहा है—जीव के श्रेष्ठ प्राण के विषय में 'आनीत् अवातं' ऐसा नहीं कहा है । अपि तु परब्रह्म एक ही है ऐसा मात्र परब्रह्म की सत्ता बतायी गयी है । यहाँ सत्ता शब्द से सत्ता मात्र नहीं कहा जाता है, किन्तु अनन्याधीन सत्ता-अन्य अनधीन स्वमात्रावलंवि सत्ता उक्त है ।

अस्तु । स्वधा पद लक्ष्मी विषय ही हो । तथाऽपि यहाँ सहयोग में ही विवक्षा-तात्पर्य लेना उचित है । महाभारत में भगवान ने कहा है—

कृत्वा मत्स्थानि भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये द्विजोत्तम ।।

अर्थात् हे ब्राह्मणोत्तम ! जङ्गम स्थावर सब प्रकार के भूतो को मुझमें

द्विजोत्तम ।। इति । ननु * ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्ययेति वाक्यशेषेणौचित्यात्तत्र विद्याशब्दः प्रकृतिविषयस्स्यात् । भवत्त्वेवम् । तथाऽपि प्रस्तुतसहोक्तिमात्रसंभवोदाहरणमिदं युज्यत एव । यद्वा *तेनेयं सच धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति इतिवत् स्वधया आनीदिति प्रेमपारतन्त्र्ये तात्पर्यम् । अथ स्यात् * मेधा श्रद्धा सरस्वती * अहं श्रद्धा

धारण कर मैं एकाकी विद्या के साथ क्रीडा करूँगा । यहाँ 'विद्या के साथ' ये शब्द इस तात्पर्य को प्रकट करते हैं कि विद्या शब्द का अर्थभूत लक्ष्मी के साथ । तो यहाँ सहयोग अर्थ लेना ही उचित है ।

फिर शङ्का उठती है कि विद्या शब्द प्रकृति वाचक है । क्योंकि वाक्य शेष ऐसा है कि

ततो भूयो जगत्सृष्टिं करिष्यामीह विद्यया ।

विद्या से पुनः मैं जगत् की सृष्टि करूँगा । प्रकृति से जगत्सृष्टि होने में औचित्य भी है ।

अस्तु, यहाँ विद्या शब्द प्रकृतिवाचक ही हो । परंतु प्रस्तुत 'कृत्वा मत्स्यानि भूतानि' श्लोक में 'विद्यया सार्धं, ऐसा जो सहोक्ति है उसका केवल सहयोग मात्र में तात्पर्य है । अथवा

तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ।

अर्थात् उससे यह जीती है, और इनसे वह धर्मात्मा जीता है । इसमें उक्त प्रकार 'स्वधया आनीत्' ऐसा प्रेम-पारतन्तय कहा जाता है ।

च मेधा च इति स्मृत्युपबृंहितया *श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते, इति श्रुत्या पत्न्यधीनोत्कर्षत्वं परस्य देवस्य प्रतीयते इति । तदपि न चोद्यम् । स्वतस्सिद्धातिशयस्य भास्करस्य प्रभान्वयेनेव* श्रियः श्रीश्च भवेदित्युक्तस्य भगवतस्स्वपत्न्याऽप्यतिशयान्तरे दोषाभावात् । अभिरूप एवाभरणेनापि द्योतमानत्वमश्नुत इत्यादिष्विवायोगव्यवच्छेदमात्रेणाप्यर्थोपपत्तौ बहुप्रमाणविरुद्धस्यान्ययोगव्यवच्छेदस्य कल्पयितुमयुक्तत्वात् । देवत्वं च निष्कृष्यमाणं देवनसंबन्ध एव, * कृत्तद्धितसमासेषु संबन्धाभिधानं

और एक आशङ्का—'मेधा श्रद्धा सरस्वती' 'अहं श्रद्धा च मेधा च' आदि स्मृतियों से उपबृंहित 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते' श्रुति से प्रतीत होता है कि पर (भगवान) में पत्नी का अधीन उत्कर्ष ही है। इस प्रकार शङ्का करना भी उचित नहीं है। भास्कर में स्वयं तेजो विशेष सिद्ध है। प्रभा के संबन्ध से उसमें पूर्व स्थित विशेषता से भिन्न एक विशेषता आती है। इसी तरह भगवान में जो 'श्रियः श्रीश्च भवेत्' कहा गया है उनकी पत्नी से पहले स्थित अतिशय से भिन्न अतिशय उत्पन्न किया जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है। 'अभिरूप ही आभरण से भी प्रकाशमानत्व को प्राप्त करता है' इस वाक्य का यह तात्पर्य नहीं है कि अभिरूपत्व-रूपवत्त्व से उस व्यक्ति में कुछ अतिशय नहीं होता; अपितु आभरण से ही होता है। ऐसा रूपवत्त्व का व्यवच्छेद नहीं करना है। क्योंकि इस अभिरूपत्व का व्यवच्छेद किये बिना ही जब अर्थ उपपन्न होता है, तब वह प्रमाण विरुद्ध अन्य योग व्यवच्छेद की कल्पना क्यों करें ? देवत्व देवन

त्वतलाविति शब्दोक्तेः। तच्च देवनं विहरणादिरूपं स्ववल्लभासहित-स्यैव परस्य देवस्य भवतीति सुस्थोऽयं पन्थाः। आहुश्च * यस्या वीक्ष्य मुखम् * अङ्गीकारिभिरालोकैः * क्रीडसि श्रीसमक्षमित्यादि। एवमा-प्तप्रणीतान्यन्यान्यपि कानिचित् स्तुतिवाक्यानि प्रमाणानां स्ववाक्यान्त-राणां चाविरोधेन स्थाप्यानि। यानि च ब्राह्मे पुराणे * सर्वातिशायिनी प्रीतिः * सर्वोत्कृष्टा सर्वमयी, * अनौपम्या निर्विकल्पा इत्यादीनि लक्ष्मीनामानि तान्यपि * न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते * यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, * तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्, * क्षरात्मानावीशते

सम्बन्ध ही है। व्याकरण सूत्र 'कृतद्धित समासेषु सम्बन्धाभिधानं त्वतलौ' इस अर्थ में प्रमाण है। वह देवन क्रीडादि रूप है। अपनी प्रिया सहित ही वह क्रीडा करता है। अतः 'श्रद्धया देवो देवत्व मश्नुते' वाक्य का ऊपर उक्त प्रकार अर्थ कहना ही उत्तम है। 'यस्या वीक्ष्य मुखम्' 'अङ्गीकारिभिरालोकैः' 'क्रीडसि श्री समक्षम्' आदि पूर्वाचार्य वचन भी इसमें प्रमाण है। इस तरह आप्तों से रचित कुछ स्तुति वाक्य भी प्रमाण एवं अपने ही वाक्यों के विरुद्ध जैसे न हो वैसे उनको सिद्ध करना चाहिए। ब्रह्मपुराण के सर्वातिशायिनी प्रीतिः सबसे अतिशयित प्रीति, 'सर्वोत्कृष्टा सर्वमयी', सभी से उत्कृष्ट और सर्वमय, 'अनौपम्या निर्विकल्पा' उपमारहित एवं निर्विकल्प, आदि लक्ष्मी के नाम भी 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' उसके समान या अधिक कोई नहीं है, 'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्' जिससे उत्कृष्ट और कुछ नहीं है, 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' ईश्वरों में श्रेष्ठ उस महेश्वर को, 'क्षरात्माना वीशते देव एकः' क्ष

देव एकः, * एक इद्राजा जगतो बभूव, * शास्ता चराचरस्यैकः, * एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता, * शास्ता विष्णुरशेषस्य, इत्यादिप्रमाणानुसारेण भगवद्व्यतिरिक्तसर्वापेक्षया तन्महिष्याः प्रकर्षं विवक्षन्ति। तथा सति * शक्तिश्च कस्य नाधिकेति तत्रत्योक्तिरपि सङ्गच्छते। शक्तिशब्दोऽपि ह्यत्र विहाराख्यकार्योपयुक्तविशेषणत्वाभिप्रायः पत्नीविषय एव।

अत्यन्तसाम्यमप्यस्यां दृष्टान्तस्वरसागतम्।
स्थाप्यं नियतनिर्बाधपत्नीत्वाद्यविरोधतः॥

और आत्मा इनके प्रभु देव एक है, 'एक इद्राजा जगतो बभूव' इस जगत् का राजा एक ही है, 'शास्ता चराचरस्यैकः' चर और अचर का शास्ता एक ही है, 'एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता' एकः ही शास्ता है, दूसरा नहीं है, 'शास्ता विष्णुरशेषस्य' सबका शास्ता विष्णु है आदि अनेक प्रमाणों के अनुसार भगवान से व्यतिरिक्त सब की अपेक्षा उनकी पत्नी में विद्यमान प्रकृष्टता के बोधक हैं। ऐसा लेने पर उस प्रकरण में स्थित 'शक्तिश्च कस्य नाधिका' उनकी शक्ति किस से अधिक नहीं है उक्ति भी संगत होती है। यहां शक्ति शब्द विहार-क्रीड़ा कार्य में उपयुक्त विशेषणत्व के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः शक्ति शब्द पत्नी लक्ष्मी का ही वाचक है।

अत्यन्त साम्यमप्यस्यां दृष्टान्तस्वरसागतम्।
स्थाप्यं नियत निर्बाध पत्नीत्वाद्यविरोधतः॥

फा०—४

अत्र *तस्य शक्तिद्वयं तादृगमिश्रं भिन्नलक्षणमिति सात्वतोक्तं देव्यास्तादृक्त्वमपि श्रुतिस्मृतिपूर्वापरादिप्रसिद्धपत्नीत्वाद्यनुगुणं योज्यम्। किञ्च यथा मुक्तस्य भगवता परमसाम्ये श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धेऽपि

दृष्टान्त स्वारस्य से लक्ष्मी में जो अन्यन्त साम्य आया है उसे इस में स्थित नियत बाध रहित पत्नीत्व आदि का जैसे विरोध न हो वैसे स्थापित करना चाहिए।

सात्वत में कहा है कि 'तस्य शक्तिद्वयं तादृक् अमिश्रं भिन्न लक्षणम्।' अर्थात् भगवान की दो शक्तियां है। वे शक्तियां भगवान के स्वरूप से मिश्र नहीं हैं। भिन्न-भिन्न लक्षण की है। इस वचन में लक्ष्मी भगवान की शक्ति के रूप में वर्णित है। इसका तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मी नामक कोई प्रत्येक रूपादिविशिष्ट तत्त्व नहीं है; किन्तु भगवान की शक्ति ही लक्ष्मी कही जाती है। वस्तुतत्त्व ऐसा नहीं है। श्रुति स्मृतियों में, तथा इसी सात्वत में ही इसके पूर्व तथा बाद में लक्ष्मी पत्नी बताई गई है। अतः इस कथन के अनुसार इस वचन का तात्पर्य लेना है।

और यद्यपि मुक्त का भगवान से परम साम्य श्रुति स्मृति आदि से सिद्ध है तो भी 'जगद्व्यापारवर्जम्' सूत्र से लक्षण भूत आकारों से विषमता का भी स्थापन किया जाता है, वैसे यहां भी है।

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' आदि श्रुतियों से, 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भाव मागता' आदि स्मृतियों से भगवान और मुक्त जीव दोनों में साम्य बताया जाता है। 'जगद्व्यापारवर्जम्' ऐसा एक ब्रह्म सूत्र है। इस सूत्र का तात्पर्य

जगव्द्यापारवर्जं मिति लक्षणभूतैराकारैर्वैषम्यं स्थाप्यते, तथेहापि भवति। *भिन्नलक्षणमिति च तत्रैवोक्तम्। आहुश्च * पितेव त्वत्प्रेयानित्यारभ्य *माता तदसि न इति। एवमनभ्युपगमे तां पुरस्कृत्य भगवदभिगमनमपि तत्रतत्रोक्तं दुश्शकं स्यात्।

है—समस्त चेतना चेतनों के स्वरूप, स्थिति, प्रवृत्तियों का नियमन अपने अधीन में रखकर अपने संकल्प के अनुसार करना जगद्व्यापार है। इस कार्य के बिना निर्व्याज ब्रह्मानुभव ही मुक्तैश्वर्यं है। क्योंकि ब्रह्म का प्रतिपादन करने के प्रकरण में सृष्टि आदि व्यापार कहा गया है। इस प्रकरण में जीव का प्रस्ताव नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि जगद्व्यापार का कारण ईश्वर ही है; जीव नहीं है। इस निर्णाय के अनुसार भगवान और मुक्त से साम्य का वर्णन करना है। जगद्व्यापार कर्तृत्व आकार से भगवान, जगद्व्यापार न करने वाले जीव से भिन्न जाने जाते हैं।

श्री पराशर भट्ट ने गुणरत्नकोशस्तोत्र में कहा है—

पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितैः
उपायैः विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

अर्थात् हे जननि आप के पति अत्यन्त पापिष्ठ जन के प्रति उन को हित करने की इच्छा से कभी कभी पिता की तरह कलुषबुद्धि (क्रुद्ध) होते है। परंतु आप' यह क्या ?' आप कैसे क्रुद्ध हुए ? इस संपूर्ण जगत् में निरपराधी भी कोई

अस्ति कर्मार्हफलदे पत्यौ कृत्यद्वयं श्रियः ।
निग्रहाद्वारणं काले सन्धुक्षणमनुग्रहे ॥

उक्तं च **श्रीविष्णुचित्तैः** गद्यव्याख्यानारम्भे * मातृत्वैकरूपां श्रि प्रपद्यते । माता हि हितादपि पुत्रस्य प्रियमेव पश्यति, पिता तूभयं पश्यति अतो दण्डधरत्वहीनतैवावलम्बनमस्यां दशायामासीदिति । अत्र वरदगु

है ? ऐसा कह कर, उचित उपायों से क्रोध को भुलवाकर अपराधियों को 'स्वजन अपना जन बना लेती हो । इस कारण से आप हमारी माता हैं । इससे भ नारायण और लक्ष्मी के आकार में वैषम्य-भिन्नता स्पष्ट है । इस प्रकार मानने पर उसके माध्यम से भगवान के अभिमुख जाना अशक्य होगा । माध्य और लक्ष्य भिन्न ही है ।

अस्ति कर्मार्हफलदे पत्यौ कृत्यद्वयं श्रियः ।
निग्रहाद्वारणं काले सन्धुक्षणमनुग्रहे ॥

जीवों के कर्म के अनुसार फल देने वाले पति के यहां लक्ष्मी दो काम करती हैं । जब पति जीवों के पाप कर्म से क्रुद्ध होकर उनका निग्रह करना चाहते हैं तब उनको निग्रह करने से वारण करती है । इतना ही नहीं किन्तु समय देखकर भगवान को उन जीवों को अनुग्रह करने में प्रचोदित-उत्साहित करती है ।

गद्यव्याख्या के आरम्भ में श्रीविष्णु चित्त ने कहा है—श्री की प्रशस्ति करते हैं जिनका रूप मातृत्व मात्र है । माता पुत्र के हित से भी प्रिय को ही देखती है । पिता तो दोनों को देखता है । अतः इस दशा में श्री में दण्डधरत्वहीनता अर्थात् दण्ड देने की प्रवृत्तिशून्यता जो है वही अवलंबन हुआ । यहां वरद

रूपदेशानुसारिभिः **व्यासार्यैश्चोक्तम्** * प्रतापोष्मलपितृत्वदुरासदभगवत्समाश्रयणसिद्धये पुरुषकारानुप्रविष्टवात्सल्यनिर्भरलक्ष्मीसमाश्रयणं श्रीमच्छब्दविवरणमुखेनाभिधीयत इति । नन्वस्या दण्डधरत्वाभावे * दैत्यदानवमर्दिनीत्यादिनामानि न घटेरन् । मैवम्; * सीतायास्तेजसा दग्धां रामकोपप्रपीडितामित्यादिष्विव कोपस्य पतिसंश्रयत्वेऽप्यस्यास्त-

---

के उपदेशों का अनुसरण करने वाले व्यासार्य ने भी कहा—श्रीमच्छब्द के विवरण में प्रताप, ऊष्मलता, पितृत्व आदि से समीप में जाने में अशक्य भगवान के समाश्रयण की सिद्धि के लिए पुरुषकार में अनुप्रविष्ट वात्सल्य से परिपूर्ण लक्ष्मी-समाश्रयण कहा जाता है । तात्पर्य है कि भगवान पिता हैं । उनमें प्रताप, तेज' आदि पुरुषगुण हैं । इन गुणों के कारण उनके सामने जाने में भय होता है । जाना दुष्कर मालूम पड़ता है । उनका समाश्रयण करना असंभव सा प्रतीत होता है । इस भगवत्समाश्रयण की सिद्धिके लिए लक्ष्मी का समाश्रयण पहले किया जाता है । क्योंकि लक्ष्मी पुरुषकार है । उस के पुरुषकार में वात्सल्य भरा है । वात्सल्य उस पुरुषकार में अन्तः प्रविष्ट है । भगवान में स्थित प्रताप ऊष्मल आदि गुणों के स्थान में लक्ष्मी में वात्सल्य गुण है; जिससे जीवों को उनके पास जाने में कोई भय आदि नहीं होता । अतः भगवत्प्रपत्ति के पहले श्री प्रपत्ति की जाती है ।

यदि लक्ष्मी दण्डधर अर्थात् अपराध का दण्ड देने वाली नहीं है तो 'दैत्य-दानवमर्दिनी' आदि नाम कैसे सङ्गत होंगे ? दानवों का नाश करने वाली दानव-मर्दिनी है । ऐसी बात नहीं है । कोप तो पति के ही आश्रित रहता है । लक्ष्मी

दनुमतिमहिम्नाऽपि दैत्यनिरासादिसिद्धेः । स्वासाधारणविभूतिवि शेषद्वारा वा तदुपपत्तिः । तदभिप्रायेण हि पुराणेषु * सौम्यासौ म्यैर्जगद्रूपैरित्याद्युच्यते ।

यत्किञ्चिदपि वैषम्यं यदि नामात्र नेष्यते ।
तयोर्देहव्यवस्थाऽपि न सिध्येत् सर्वसंमता ॥
अव्यवस्थितिपक्षस्तु हेतुपक्षोऽयमित्यपि ।
अश्रुतत्वादिहानुक्तेर्दूषणं वाऽपि नार्हति ॥
न हि सिद्धे विकल्पस्स्यान्न संदेहोऽत्र निश्चयात् ।
न कालाद्यैर्विपर्यासस्तन्नित्यत्वादिसाधनात् ॥ २ ॥

उस कोप करने का अनुमति मात्र देकर दैत्यदानवों का निरास करती है । 'सीता यास्तेजसा दग्धां रामकोप प्रपीडिताम्' राम के कोप से पीडित हैं, सीता तेज से दग्ध है, इत्यादि में यह स्पष्ट है । अथवा उनकी असाधारण महिमा दण्डधरत्व उपपन्न होता है । इस अभिप्राय से ही पुराणों में 'सौम्यासौम्यै जगद्रूपैः' आदि कहा है ।

यत् किञ्चित्—नारायण और लक्ष्मी में वैषम्य को वह बहुत स्वल्प क्यों न हो मानना ही है । अन्यथा इन दोनों का पृथक् पृथक् जो शरीर है, जि दो भिन्न शरीरों को सब मानते हैं वे भी सिद्ध नहीं होंगे ।

'लक्ष्मी तत्त्व अव्यवस्थित है; वह इस प्रकार का है ऐसा निर्णय नहीं क सकते हैं !' यह पक्ष खण्डन करने का भी योग्य नहीं है । क्योंकि यह पक्ष अ तक सुनने को भी नहीं मिला । यहाँ इस पक्ष का उल्लेख भी नहीं किया गया है

ईषत्त्वत्करुणानिरीक्षणसुधासन्धुक्षणाद्रक्ष्यते
नष्टं प्राक्तदलाभतस्त्रिभुवनं संप्रत्यनन्तोदयम् ।
श्रेयो न ह्यरविन्दलोचनमनःकान्ताप्रसादादृते
संसृत्यक्षरवैष्णवाध्वसु नृणां संभाव्यते कर्हिचित् ॥३

एक वस्तु इस प्रकार का है ऐसा निष्कृष्ट रूप से सिद्ध होने के बाद 'वह वस्तु इस प्रकार का भी हो सकता है अथवा दूसरे प्रकार का भी हो सकता है' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता है। विषय का निश्चय तो है; अतः सन्देह का अवकाश नहीं है। पुराने समय में श्रीतत्त्व एक प्रकार का था; बाद में वही दूसरे प्रकार में परिवर्तित हो गया। ऐसा परिवर्तन भी इस विषय में नहीं कह सकते; क्योंकि श्रीतत्त्व की नित्यता सिद्ध है।

श्लोकार्थ

हे देवि, भूमि, आकाश और पाताल में रहने वाले जीवगणों पर जब तक आपका कृपा कटाक्ष नहीं पड़ता तब तक नष्ट अर्थात् अचेतन के समान सभी पड़े थे। आपका करुणा निरीक्षणामृत जब उनके ऊपर पड़ा तब से उनका अभ्युदय हुआ। संसारसुख का अनुभव करने में, आत्मानुभव करने में, अर्चिरादि मार्ग से मोक्ष जाने में जीवों का जो सुख होता है वह सुख कमलनयन वासुदेव की प्रिय पत्नी के अनुग्रह के बिना सर्वथा असंभव है।

विशेषार्थ

इसके पूर्व दोनों श्लोकों में महामहिम शालिनी महालक्ष्मी की स्तुति अल्प-

एवं स्तुत्याक्षेपसमाधानव्याजेन स्वामित्वसौलभ्यादिकं प्रतिपाद्य स्तोतुमुपक्रान्तस्सर्वाश्रयणीयत्वाय सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुदाहरणविशेषार्थान्तरन्यासाभ्यामुपपादयति —**ईषदिति** ॥ एतदनुग्रहैकदेशोऽपि अनन्तानिष्टनिवृत्तेरनन्ताभ्युदयसिद्धेश्च निदानमिति व्यञ्जयितुमीषच्छब्दः । त्वच्छब्देन * प्रणिपातप्रसन्ना हि * क्षिप्रप्रसादिनीं देवीमित्या-

---

ज्ञानी कैसे कर सकता हूँ ऐसा आक्षेप करके मैं दास और प्रपन्न हूँ; लक्ष्मी जी स्वामिनी और दया की मूर्ति है। उनमें सौलभ्य है। अत: मैं निर्भीक होकर स्तोत्र करूँगा ऐसा समाधान किया। इस श्लोक में स्तोत्र का आरम्भ करते हैं। किसी का आश्रय लेना हो तो उसमें ऐसे गुण होने चाहिए जिनसे आकृष्ट होकर लोग उनके पास जावें। जो जिसकी अपेक्षा करता है उसे पूरा करने की शक्ति, इच्छा आदि उसमें होनी चाहिए। सभी लोगों से आश्रयणीय होना तो सर्वाधिक एवं सबसे वाञ्छित फल के प्रदान में समर्थ होना चाहिए। ऐसा सामर्थ्य लक्ष्मी जी में है। सभी पुरुषार्थों का हेतु-देने वाली है। इसका प्रतिपादन इसलिए करते हैं जिससे सभी लोग उनके आश्रय में जायें। उदाहरण और अर्थान्तरन्यास से लक्ष्मी जी के सकल पुरुषार्थ हेतुत्व का उपपादन करते हैं।

ईषत्— यह शब्द इस अर्थ को व्यक्त करता है कि लक्ष्मी जी के अनुग्रह का एक बूँद भी सभी अनिष्टों का निवर्तक है तथा अनन्त अभ्युदयों की सिद्धि करने वाली है।

त्वत्—लक्ष्मी की अति सुलभ प्रसन्नता-शीघ्र प्रसाद करने का स्वभाव आदि इस त्वत् शब्द से सूचित होते हैं। 'प्रणिपात प्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा

दिपूक्तस्स्वभावस्सूच्यते । सामान्यतश्च तदनुग्रहस्य सदातनत्वमुक्तं मङ्कणसंहितायाम् * पद्मे स्थिता पद्मवर्णा पद्मनाभप्रिया शुभा । सदाऽनुग्रहसंपन्ना सा मे देवी प्रसीदतु ॥ इति । अष्टोत्तरनामस्तोत्रे च* नमामि कमलां क्षान्तिं क्षमां क्षीरोदसंभवाम् । अनुग्रहपरामृद्धिमनघां हरिवल्लभाम् ॥ इति । अनिष्टनिवर्तनेष्टप्रापणानुगुणकरुणाहेतुकं निरीक्षणं करुणानिरीक्षणम् । करुणाया विषयीकरणं वा निरीक्षण-

---

केवल प्रणाम मात्र से जनक पुत्री मैथिली प्रसन्न हो जाती है, 'क्षिप्रप्रसादिनीं देवीम्' अतिशीघ्र प्रसाद करने वाली देवी को, आदि में यह स्वभाव बताया गया है । सामान्यतः उनका अनुग्रह सदा के लिए होता है । मङ्कण संहिता के

पद्मे स्थिता पद्मवर्णा पद्मनाभप्रिया शुभा ।
सदाऽनुग्रहसंपन्ना सा मे देवी प्रसीदतु ॥

कमलवासिनी, कमल वर्ण वाली, पद्मनाभ की प्रिया, शुभा, सर्वदा अनुग्रह से पूर्ण देवी मुझसे प्रसन्न रहे ।

इस श्लोक में उनका सदाऽनुग्रह कर्तृत्व उक्त है । अष्टोत्तरनाम स्तोत्र के

नमामि कमलां क्षान्तिं क्षमां क्षीरोदसम्भवाम् ।
अनुग्रहपरामृद्धिमनघां हरिवल्लभाम् ॥

कमला की वन्दना करता हूँ जो क्षान्ति और क्षमा का स्वरूप है, क्षीरार्णव में आविर्भूत, अनुग्रह करने में तत्पर, ऋद्धि, दोषरहित एवं हरि की प्रिया है । इस श्लोक में भी श्री के अनुग्रह का सदातनत्व प्रतिपादित है ।

करुणा निरीक्षण अनिष्ट के दूर करने तथा इष्ट के पहुँचाने के अनुगुण

शब्देनोपचर्यंते । तदिदमुक्तं तत्संहितायाम् * सामर्ग्यजुर्मयीं देवीं वेदगर्भां मनस्विनीम्। लोकेशेशविभूतीनां कारणं यन्निरीक्षणम् ।। इति । तस्य विश्वसञ्जीवनतया सुधात्वरूपणम्। तया सन्धुक्षणं - सम्यगुल्लासनम्। अत्र पञ्चम्युक्तं हेतुत्वं तु उदयापेक्षया रक्षणापेक्षया च योज्यम्। रक्ष्यते-

---

जो करुणा है उसका कारणभूत निरीक्षण करुणा निरीक्षण है। अथवा करुणा से अपने विषय के रूप में लेना करुणा निरीक्षण है। (आर्त को लक्ष्मी करुणा द्वारा अपने अनुग्रह का पात्र वना लेती है। यह आर्त करुणा निरीक्षण है) यह मङ्कण संहिता के

सामर्ग्यजुर्मयीं देवीं वेदगर्भां मनस्विनीम्।
लोकेशेश विभूतीनां कारणं यन्निरीक्षणम् ।।

साम, ऋक्, यजुर्वेदमयी, वेद कों प्रकट करने वाली उदार देवी को (नमस्कार) जिनका निरीक्षण लोकपालों के ईश श्रीमन्नारायण के ऐश्वर्य का भी कारण है। श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

सुधासन्धुक्षणात्—सुधा (अमृत) विश्व का सञ्जीवन है। श्री का निरीक्षण भी प्रपञ्च का सञ्जीवन है। अतः भगवती के निरीक्षण को सुधा-अमृत के रूप में रूपण किया। उस निरीक्षण अमृत से सन्धुक्षण --संयक् प्रकार से उल्लासन। सन्धुक्षणात् शब्द में जो पंचमी विभक्ति है वह हेतु वाचक पञ्चमी है। श्री का निरीक्षण भुवनत्रय का रक्षण तथा अनन्तोदय का हेतु है।

रक्ष्यते--किसी प्रकार के उपद्रव के बिना विश्व का स्थापन किया जाता है।

निरुपद्रवमवस्थाप्यते । प्राक् - त्वदुपेक्षाकाले, तदलाभतः - त्वन्निरीक्षणालाभतः, न तु त्वत्कोपतः, * कः कुप्येद्वानरोत्तमेत्यादि वदन्त्यास्तव कोपासंभवात् । त्रिभुवनशब्देन त्रैलोक्यान्तर्वर्तिनः क्षेत्रज्ञा लक्ष्यन्ते । संप्रति * ततोऽवलोकिता देवा इत्याद्युक्तायां त्वन्निरीक्षणदशायाम् । अनन्तोदयं - पूर्वकालादप्यतिशयिताभ्युदयामित्यर्थः । उक्तं ह्येतत्सर्वमिन्द्रेण * त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम् । विनष्टप्रायमभवत्त्वयेदानीं समेधितम् ।। इति । अत्र प्रलयादिकं विवक्षितमिति केचित् ।

प्राक् - आप जब उपेक्षा करती थीं उस समय ।

तदलाभतः आप के निरीक्षण के अलाभ से (अप्राप्ति से) न कि आप के कोप से । 'कः कुप्येत् वानरोत्तम' हे वानरोत्तम हनूमान् ! कौन क्रोध करेगा ? आदि कहनेवाली आप को कोप कैसे हो सकता है ?

त्रिभुवनं—तीन लोकों में रहने वाले जीव । संप्रति– 'ततोऽवलोकिता देवा' फिर देव अवलोकित हुए । इत्यादि में उक्त आप के निरीक्षण की दशा में ।

अनन्तोदयं—पहले से भी अधिक अभ्युदय । यह सब इन्द्र ने कहा है—

हे देवि, आप से परित्यक्त तीनों लोक विनष्ट जैसे हो गये । अब आप से समृद्ध हुए । कुछ लोगों का कहना है यहां (नष्ट शब्द का) प्रलय से तात्पर्य है । इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह दिखाया गया कि देव आदियों का ऐश्वर्य इनके अधीन है । निरीक्षण से रक्षण-अन्वय है; उसके अलाभ से नाश-व्यतिरेक है । काश्यप ने भी कहा है—

हे कमलेश्वरि लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि देव, तपोधन मुनिजन आदि सब आप के चरणों की छाया के आश्रय पाकर वृद्धि पाते हैं ।

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतत्कटाक्षाधीनं देवादीनामैश्वर्यमिति दर्शितम्। यथाऽऽह **काश्यपः** "ब्रह्माद्याश्च सुरास्सर्वे मुनयश्च तपोधनाः। एधन्ते त्वत्पदच्छायामाश्रित्य कमलेश्वरि ॥ इति। **मङ्कणसंहितायाञ्चाष्टा**नामपि लोकपालानां तत्पूजानिरतत्वं तदधीनवैभवत्वं च प्रपञ्चितं द्रष्टव्यम्। उक्तसमर्थनव्याजेन सर्वपुरुषार्थानां तत्प्रसादाधीनत्वमाह - **श्रेय** इति। अत्र त्वत्प्रसादादिति वक्तव्ये अरविन्दलोचनमनःकान्ता-प्रसादादिति कथनं तथाविधप्रसिद्धिप्रकर्षद्योतनार्थम्। अरविन्दलोचन-शब्देन "यं पश्येन्मधुसूदन इत्याद्यभिप्रेतं श्रीपतेरप्यनुग्रहशीलत्वं सूच्यते। तन्मनःकान्तात्वोक्तिः सर्वापेक्षितदाने तयोस्समानाभिप्रायत्वं व्यनक्ति।

मङ्कण संहिता में प्रपञ्चित अष्ठ लोक पालों की श्रीपूजा में संलग्नता और उनके वैभवों की श्री की अधीनता द्रष्टव्य हैं।

श्रेयः—उक्त अर्थ के समर्थन के व्याज से सभी पुरुषार्थों की उनके प्रसाद की अधीनता इससे बतायी जाती है।

अरविन्दलोचनमनः कान्ता प्रसादात्—यहां कहना चाहिए 'त्वत्प्रसादात्' अर्थात् आपके प्रसाद से। किन्तु ऐसा न कहकर 'अरविन्दलोचनमनः कान्ता प्रसादात्' कहने का तात्पर्य है कि लक्ष्मी जी को 'अरविन्दलोचनमनःकान्ता' रूप से अधिक प्रसिद्धि है; और इस प्रसिद्धि में विशेषता भी है। अरविन्द लोचन शब्द से 'यं पश्येत् मधुसूदनः' (जिसे मधुसूदन देखेगा) इत्यादि में अभिप्रेत श्रीपति का भी अनुग्रहशीलत्व सूचित होता है। श्रीपति के मनः कान्ता कहना सभी (आश्रित जीवों) से अपेक्षित अर्थों के दान में दोनों के समान अभिप्राय को व्यक्त करता है। यहां मन शब्द बुद्धिपरक है। क्योंकि भगवान का ज्ञान

अत्र मनश्शब्दो बुद्धावुपचरितः, भगवतः करणायत्तज्ञानत्वाभावात् । मनःकान्ता-अभिमतेत्यर्थः । पूर्वं कान्तस्त इत्युक्तम्, अत्र तु इयं भगवतः कान्तेति । एतेन परस्परानुकूलतया सर्वत्र व्यापारे सामरस्यं व्यज्यते । प्रसादात् - कृपाविशेषादिति यावत्, अस्याः कचिदपि निग्रहासंभवेन तन्निवृत्तिरूपप्रसादायोगात् । संसृतिशब्द इह पुरुषार्थसमभिव्याहारात्पारिशेष्याच्चैश्वर्यपरः । तेन त्रिवर्गान्तर्भूतं सर्वमभिमतमपि विवक्षितम् । अक्षरशब्दस्तु प्रत्यगात्मानुभवपरः । वैष्णवाध्वशब्देन गतिविशेषद्वारा भगवत्प्राप्तिर्लक्ष्यते । एतेषु श्रेयः—श्रेष्ठं सुखं तत्साधनं वा । * पुण्य-

---

मन आदि करण से उत्पन्न नहीं होता । मनः कान्ता-अभिमता । पहले 'कान्तस्ते' 'कान्त आपका' कहा । यहां 'इयं भगवतः कान्ता' यह भगवान की कान्ता कहा । इससे यह व्यक्त होता है कि इन दोनों के परस्पर अनुकूल होने के कारण सभी व्यापारों में सामरस्य-समानता है ।

प्रसादात्— कृपा विशेष से । इनका कहीं भी निग्रह (दण्ड) ही नहीं है । अतः उस निग्रह की निवृत्ति रूप प्रसाद अर्थ कहना सङ्गत नहीं है ।

संसृति—यहां यह शब्द पुरुषार्थ (अक्षर, वैष्णवाध्व) के साथ कहने से और परिशेष से ऐश्वर्य परक है । अतः त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम में अंतर्भूत) सब से तात्पर्य है ।

अक्षर—प्रत्यगात्मा का अनुभव ।

वैष्णवाध्व—इस शब्द से गति विशेष की द्वारा भगवत्प्राप्ति लक्षित है ।

श्रेयः—इन ऐश्वर्य, प्रत्यागात्मानुभव केवलात्मानुभव रूप कैवल्यमुक्ति और

श्रेयसी सुकृतं वृष इति हि पठन्ति। नृणामिति सर्वक्षेत्रज्ञोपलक्षणम्। हिरण्यगर्भस्यापि ब्राह्मे पुराणे तदधीनैश्वर्यत्वमुक्तम् * पद्मयोनिरिदं प्राप्य पठन् स्तोत्रं ततः क्रमात्। दिव्यं चाष्टगुणैश्वर्यं तत्प्रसादाच्च लब्धवान्॥ इति॥

ब्रह्मादीनां यदायत्तं वैभवं यस्य सा स्वयम्।
तस्य कैमुत्यनिर्धार्यमीश्वरत्वं श्रियःपतेः॥

एतत्प्रसादादृते नृणां श्रेयो हि न संभाव्यत इति व्यतिरेकोक्त्याऽग्नीन्द्रादिप्रयुक्तमपि नृणां श्रेयः एतदधीनमिति व्यज्यते। हिशब्देन श्रीसूक्त-

---

भगवत्प्राप्ति में श्रेयः-श्रेष्ठ सुख अथवा उसका साधन। 'पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' ऐसा श्रेय को सुकृत कहा है।

नृणाम्—सभी क्षेत्रज्ञों का, यह शब्द उपलक्षण है। ब्रह्मपुराण में कहा है कि हिरण्य गर्भ का भी ऐश्वर्य श्री जी के अधीन है। ब्रह्मा ने इस श्री स्तोत्र को प्राप्त करके, यथाविधि पाठ करके, उनके अनुग्रह से आठ गुणा दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त किया। ब्रह्मा आदि देवों का वैभव जिस श्री का अधीन है, वह श्री स्वयं जिसका है उस श्रीपति का ऐश्वर्य कैमुत्य सिद्ध है। जिसका शिष्य ही इतना विद्वान हो उस आचार्य की विद्वत्ता के विषय में पूछना क्या है? इस तरह किसी विषय को सिद्ध करना कैमुत्य न्याय है। सभी ऐश्वर्य श्री का है; वह श्रीपति की है तो श्रीपति के ऐश्वर्य के बारे में कहना ही क्या है?

इसके प्रसाद के विना मानवों का श्रेयः प्राप्ति की संभावना ही नहीं है। इस तरह की व्यतिरेकोक्ति से व्यक्त होता है अग्नि इन्द्र आदि देवता द्वारा मानवों को दिये जाने वाला श्रेय भी इस श्री के अधीन है।

श्रीस्तुत्यादिषु सर्वशास्त्रेषु च प्रसिद्धिर्द्योत्यते । **न संभाव्यते**-न सिध्यतीत्यर्थः । ईदृशस्यास्याः प्रसादस्येन्द्रादीनामिव कालभेदभेद्यत्वं च नास्तीति व्यञ्जनाय कर्हिचिदित्युक्तम् । ननु मोक्षप्रदत्वं भगवत एवेति सर्वत्र स्थापितम् । **श्रीसात्वते** च स्वस्य मोक्षप्रदत्वं देवानामैश्वर्यप्रदत्वं च विभज्योक्तम् । तदत्र संसृत्यक्षर वैष्णाध्वस्विति अविशेषवचनं प्रशंसामात्रपरं स्यात् । मैवम् । **श्रीसात्वत** एव * यामालम्ब्य सुखेनेमं दुस्तरं हि गुणोदधिम् । निस्तरन्त्यचिरेणैव व्यक्तध्यानपरायणाः ॥ इति बन्धहेतुभूतगुणोदधिनिस्तरणकारणत्वेन लक्ष्मीसमाश्रयणस्य प्रति-

---

हि—यह शब्द प्रसिद्धि सूचक है । श्रीसूक्त, श्रीस्तुति आदियों में एवं सभी शास्त्रों में श्री की महिमा का वर्णन प्रसिद्ध है । **न सम्भाव्यते** सिद्ध नहीं होता है ।

कर्हिचित्—इन्द्रादि देवों का प्रसाद निश्चित समय तक ही फलप्रद होता है । किन्तु इतनी महिमाशालिनी लक्ष्मी के प्रसाद का कालसीमा ही नहीं है ।

यहां एक शङ्का होती है—सर्वत्र यह विषय स्थापित है कि भगवान ही मोक्ष प्रदाता हैं, देवगण अन्य ऐश्वर्य के प्रदाता है । इस स्थिति में यहां 'संसृति, अक्षर, वैष्णवाध्वों में (लक्ष्मी जी का) श्रेयोदान' जो कहा है वह प्रशंसा परक है, वस्तु-तत्त्व नहीं । ऐसी बात नहीं है । श्री सात्वत में कहा है कि

> यामालम्ब्य सुखेनेमं दुस्तरं हि गुणोदधिम् ।
> निस्तरन्त्यचिरेणैव व्यक्त ध्यान परायणाः ॥

पादनात्। उक्तं च स्वयंभुवा * सर्वकामप्रदां रम्यां संसारार्णवतारिणीम्। क्षिप्रप्रसादिनीं लक्ष्मीं शरण्यामनुचिन्तयेत्॥ इति। ब्राह्मे च पुराणे तन्नामान्येवं पठ्यन्ते * सकृद्विभाता सर्वार्तिसमुद्रपरिशोषिणी, * भवभङ्गापहारिणी, * परिनिर्वाणदायिनी, * ज्योतिष्मत्यमृतावहेत्यादीनि। वैष्णवे च * आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनीति। अत्र विमुक्तिफलदायित्वात्मविद्याविशेषणत्वेऽपि तादृशविद्यायास्तदधीनत्वोक्त्या प्रकृतसिद्धिः। मोक्षहेतुभूतात्मगुणसिद्धिश्च तदधीनेति तत्रतत्रोक्तम्।

'ध्यान करने वाले जिनका अवलम्बन करके इस दुस्तर सत्वरजस्तमोगुण रूप समुद्र का अतिशीघ्र पार करते हैं, उन लक्ष्मी का समाश्रयण बन्ध कारण भूत सत्वरजस्तमो रूप त्रिगुण समुद्र का तरण करने का कारण है। स्वयंभू ने भी कहा है—

सर्वकामप्रदां रम्यां संसारार्णवतारिणीम्।
क्षिप्रप्रसादिनीं लक्ष्मीं शरण्यामनुचिन्तयेत्॥

सभी फलों की देनेवाली, सुन्दर, संसार समुद्र का पार कराने वाली, शीघ्र प्रसन्न होने वाली, शरण में जाने योग्य लक्ष्मी का ध्यान करो। ब्रह्मपुराण में उनके नाम इस प्रकार पठित है—

सकृद्विभाता सर्वार्तिसमुद्रपरिशोषिणी,

भवभङ्गापहारिणी,

परनिर्वाणदायिनी,

एवं स्थिते गद्यारम्भोक्तन्यायेन मोक्षोपायतदधिकारयोस्तावदेतन्मूलत्वं दुरपह्नवम् । मोक्षप्रदे भगवति मुमुक्षूणां घटकतयैषा तिष्ठतीति च सर्वसम्मतम् । परिपूर्णानुभवप्रदानसङ्कल्पस्तु भगवतस्स्वस्यैव वा सपत्नीकस्य वेति यथाप्रमाणं भवतु । सर्वथा वैष्णवाध्वश्रेय:प्रदत्वमस्या इहोच्यमानं न विरुद्धमिति ।। ३ ।।

ज्योतिष्मती, अमृतावहा ।

उसका प्रकाश कभी नष्ट नहीं होता, सभी प्रकार की आर्तियों के समुद्र का शोषण करने वाली, संसार लहरों का नष्ट करने वाली, दूसरों की आनन्द देनेवाली, ज्योतिर्मयी, अमृत का निदान ।

विष्णु पुराण में कहा है ।

हे देवि, मोक्षफल देने वाली आत्मविद्या तुम हो । यद्यपि यहाँ आत्मविद्या का विशेषण है विमुक्तिफलदायित्व, अर्थात् आत्मविद्या ही विमुक्ति देने वाली है । ऐसा प्रतीत होता है तो भी मुक्ति देने वाली विद्या श्री के अधीन है । अत: श्री मोक्षप्रद है । कई स्थलों में यह भी कहा है कि मोक्ष के कारण भूत आत्म गुणों की सिद्धि उनके अधीन है । इस स्थिति में यह अकाट्य है कि शरणागति गद्य के आरम्भ में उक्तन्याय से मोक्षोपाय एवं उसका अधिकार ये दोनों एतन्मूलक ही हैं ।

गद्य के आरम्भ में 'भगवन्नारायण······भगवतीं श्रियं देवीं······अशरण्यशरण्यां अनन्यशरण: शरणमहं प्रपद्ये' कहकर भाष्यकार स्वामी ने श्री की

शान्तानन्तमहाविभूति परमं यद्ब्रह्म रूपं हरे-
मूर्तं ब्रह्म ततोऽपि तत्प्रियतरं रूपं यदत्यद्भुतम् ।
यान्यन्यानि यथासुखं विहरतो रूपाणि सर्वाणि ता-
न्याहुस्स्वैरनुरूपरूपविभवैर्गाढोपगूढानि ते ।।४

शरणागति की है। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति का उपाय एवं मोक्ष प्राप्ति में अधिकार एतन्मूलक है। यह तो सभी मानते हैं कि भगवान के मोक्ष देते मुमुक्षुओं के और भगवान के बीच में लक्ष्मी घटक (परस्पर सम्बन्ध करने वाली) के रूप में विराजती हैं। यह बात प्रमाण के अनुसार किसी भी प्रकार हो कि परिपूर्ण अनुभव प्रदान करने का सङ्कल्प भगवान स्वयं करते हैं अथवा लक्ष्मी सहित होकर करते हैं। यह तो सर्वथा विरुद्ध नहीं है कि यहाँ जो वैष्णवाभ्व-श्रेयःप्रदत्व इनका कहा गया है ।।३।।

श्लोकार्थ

श्रुति आदि प्रमाण कहते हैं कि भगवान हरि के तीन प्रकार के स्वरूप हैं। एक परब्रह्मरूप है जो शान्त, अनन्त और उभय विभूतियों से युक्त है। और एक परमपद, मन्दिर आदि में विराजमान रूप है जो स्पर्श रूप आदि सहित है, सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त रहने के कारण प्रियतर है, अत्यन्त आश्चर्य वह है। तीसरा भगवान ने अपनी इच्छा से विहरण करने के लिए व्यूह व्यूहान्तर आदि रूप जो लिया है वह रूप है। वे सब रूप श्री के अनुरूप रूप विभवों से दृढ़ सम्बद्ध हैं।

एवं श्लोकत्रयोक्तायास्सहधर्मचारिण्या भगवतस्स्वरूपविग्रहावतारेष्व-योगव्यवच्छेदं वदन्नस्या अपि तद्वत्प्रधानप्राप्यत्वं सूचयति **शान्तेति** ॥ **शान्तम्** - अशनायाद्यूर्मिभिरपक्षयादिविकारैश्च नित्यानन्वितमिति भावः । **अनन्तम्** त्रिविधपरिच्छेदरहितम् । महत्यौ शुद्धाशुद्धे विभूती यस्य तन्महाविभूति । परमं-सर्वोत्कृष्टम् । यच्छब्दः सर्वोपनिषत्प्र-

---

बिशेषार्थ

इस तरह तीन श्लोकों में भगवान की सहधर्मचारिणी श्री के स्वरूप स्वभाव आदि वर्णित हुए । इस श्लोक में यह बताते हैं कि यह लक्ष्मी भगवान के स्वरूप, विग्रह, अवतारों में सर्वत्र युक्त होकर ही रहती है; किसी भी अवस्था में विछुड़ती नहीं; यह श्री भी नारायण की तरह प्रधान प्राप्य है ।

शोक मोह जरा मृत्यु क्षुत् पिपासा इन षट् ऊर्मियों से, अपक्षय आदि विकारों से कभी सम्बद्ध नहीं होती है ।

शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः ।

श्रीभागवत टीका ।

बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ ।
शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥

अनन्तम्—काल देश वस्तु परिच्छेद रहित । अर्थात् आज है कल नहीं था, इस देश में है, उस देश में नहीं है, इस वस्तु में है उस वस्तु में नहीं है इस प्रकार के परिच्छेदों से रहित ।

सिद्धिं सूचयति । ब्रह्म - निरतिशयबृंहणत्वयुक्तं रूपं, स्वरूपमित्यर्थः। अत एव व्यतिरेकविभक्तिश्चात्र घटते । हरेः - आश्रितदोषहारिणस्सर्वेश्वरस्य, यद्वा सर्वसंहर्तुः, यथोक्तं पुराणे * ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेव च। निगृह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्यते ।। एतच्चतुर्विधप्रलयकर्तृत्वोपलक्षणम् । उक्तस्वरूपानुरूपं * मूर्तं ब्रह्म, महाभागेत्यादिप्रसिद्धं

महाविभूति—महान शुद्ध और महान अशुद्ध विभूति जिसकी हैं। शुद्ध विभूति-नित्य विभूति, परमपद । अशुद्ध विभूति-लीला विभूति ।

परमं—सर्वोत्कृष्ट ।

तत्—सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध ।

ब्रह्मरूपम्—निरतिशय वृहत्व—बृंहणत्व से युक्त रूप । अर्थात् स्वरूप। अत एव हरेः ऐसी भिन्न षष्ठी विभक्ति घटित होती है ।

हरेः—आश्रितों के दोष का हरण करने वाले ईश्वर का। अथवा सर्व संहार कारक का । पुराण में कहा है—

ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेव च ।
निगृह्य हरते यस्मात् तस्माद्धरिरितीर्यते ।।

हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, यम और वरुण का निग्रह करके हरण करता है। अतः वह हरि कहा जाता है। यह हरण चार प्रकार के प्रलयों का उपलक्षण है। चार प्रकार के प्रलय है—महाप्रलय, अवान्तरप्रलय, मन्वन्तरप्रलय और कल्पान्तप्रलय ।

उक्त स्वरूप के अनुरूप मूर्त ब्रह्म ।

सालम्बनयोगविषयभूतं दिव्यविग्रहमाह - मूर्तमिति । मूर्तं - स्पर्शरूपादियुक्तं परमपदपर्यङ्कादिदेशपरिच्छिन्नं चेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मशब्देन दिव्यविग्रहस्यातिमहत्त्वं स्वसंश्रितानां धीविकासहेतुत्वं च विवक्षितम् । ततोऽपि * आनन्दो ब्रह्म इत्याद्याम्नातात्स्वरूपादपि तत्प्रियतरं तस्य निरतिशयानन्दस्य भगवतस्स्वरूपादपि सौन्दर्यादिगुणयोगादतिशयेन प्रीतिविषयभूतम् । तदिति व्यस्तं वा, प्रसिद्ध्यतिशयद्योतनार्थं यत्तदित्यन्वे-

---

मूर्तं—'महाभाग' इत्यादियों में प्रसिद्ध आलंबनसहित योग के विषयभूत दिव्यविग्रह । स्पर्श आदि से युक्त, परमपद पर्यङ्क आदि देश से परिच्छिन्न । अर्थात् परमपद में दिव्यपर्यङ्क में विराजमान बैकुण्ठनाथ, जिसको स्पर्श कर सकते हैं और रूप देख सकते हैं ।

ब्रह्म--बृहत्वात् ब्रह्म, अर्थात् भगवान का दिव्य विग्रह अति महान है । बृंहणत्वात् ब्रह्म—आश्रितों की बुद्धि का बृंहण करता है अर्थात् विकसित करता है ।

ततोऽपि—'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि से उक्त स्वरूप से भी ।

तत्प्रियतरम्— निरतिशयानन्दमय भगवान के उस स्वरूप से भी सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण प्रीति का विषयभूत । तस्मात् प्रियं ऐसा विग्रह करके यह अर्थ बताया गया । तत् प्रियतरं ऐसा व्यस्त पद के रूप में तत् को लेने पर 'प्रसिद्ध' अर्थक है तत् शब्द । तब 'यत् तत्' ऐसा अन्वय है ।

तव्यम् । रूपशब्द इह दिव्यविग्रहपरः । यच्छब्देन श्रुतिषु भगवच्छास्त्रादिषु च नित्यत्वादिविशिष्टतया प्रसिद्धिस्सूच्यते । **अत्यद्भुतं**- सन्निवेशगुणविहारप्रभावादिभिरतिविस्मयावहम् । एवमादिमं रूपमुक्तम् । अथ तद्विजृम्भितानि व्यूहव्यूहान्तरविभवविभवान्तरादीन्याह - **यान्यन्यानीति** । यच्छब्द इहावताररहस्यप्रकरणादिप्रसिद्धिपरः । बहुवचनेन * पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इत्याद्युक्तं भूयस्त्वं विवक्षितम् । अन्यानि - पररूपात्तदंशतया सन्निवेशैर्वर्णादिभिश्च विलक्षणानि । यथासुखं - मनुष्यादिसजातीयावतारदशायामप्यस्य स्वाभाविकसुखादि-

---

रूपम्—दिव्य विग्रह ।

यत्-श्रुतियों में एवं भगवच्छास्त्र (पाञ्चरात्र) आदि में नित्यत्व आदि गुणों से युक्त रूप में जो प्रसिद्धि है उसे यह यत् शब्द सूचित करता है ।

अत्यद्भुतम्-अवयवों का सन्निवेश, गुण, क्रीडा, प्रभाव आदि से अधिक आश्चर्य कारक ।

यानि अन्यानि—'शान्तानन्त' आरम्भ करके 'अद्भुतं' पर्यन्त पूर्वार्ध में आदिम पर रूप वर्णित हुआ । 'यान्यन्यानि' से पूर्वोक्त आदिम रूप के विकसित व्यूह-व्यूहान्तर, विभव-विभवान्तर आदि को कहते हैं । यहाँ यानि शब्द अवतार रहस्य प्रकरण आदि में जो प्रसिद्धि है उसका सूचक है । बहुवचन से 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' इत्यादि में उक्त भूयस्त्व-अधिकता विवक्षित है । अन्यानि-पररूप के अंश हैं ये अन्य रूप । तो भी सन्निवेश से, रंग से उस से विलक्षण है ।

यथासुखम्--मनुष्य आदि के समान रूप लेने पर भी इन का जो स्वाभाविक

निवृत्तिः दुःखं वा नास्तीति भावः। विहरत इत्यनेनावताररूपाणां स्वेच्छामात्रहेतुकत्वं क्रीडार्थत्वं च गम्यते। तेन कर्महेतुकत्वादिशङ्का निरस्ता। एतेषु स्वरूपादिषु किञ्चिदपि श्रियाऽनन्वितं नास्तीति द्योतनाय सर्वाणि तानीत्युक्तम्। **आहु** :—श्रुतिस्मृत्यादीनि, तद्विदो वा स्वयम्भूवसिष्ठपराशरपाराशर्यात्रिकाश्यपशौनकमङ्कणशतमुखधनदादयस्तत्तत्संहिताप्रणेतारः। **स्वैः** - तवासाधारणैः, **अनुरूपरूपविभवैः**--अनुरूपाणां रूपाणां सम्पद्भिः। रूपाण्येव वा विभवः, प्रभूतानुकूल्यैरनुरूपरूपैरिति यावत्। रूपशब्द

सुख आदि है उसकी निवृत्ति नहीं होती है। तथा दुःख भी नहीं होता है।

विहरतः – अपनी इच्छा से अवतार रूपों का ग्रहण करते है। और ये रूप क्रीडार्थ हैं। इससे यह शङ्का निरस्त है कि कर्म के कारण भगवान का शरीर सम्बन्ध होता है।

सर्वाणि तानि रूपाणि-पूर्वोक्त स्वरूपों में एक भी ऐसा स्वरूप नहीं है जो श्री से यूक्त न हो। इसे सूचित करने के लिए 'सर्वाणि तानि' कहा।

आहुः— श्रुति स्मृति आदि अथवा इनके ज्ञाता ब्रह्मा, वसिष्ठ, पराशर, पाराशर्य, अत्रि, काश्यप, शौनक, मङ्कण, शतमुख, कुबेर आदि उन संहिता के कर्ता (कहते हैं।)

स्वै :—आप के असाधारण। (और किसी में अविद्यमान)

अनुरूप रूप विभवैः—अनुरूप रूपों की संपदा से। अथवा रूप ही विभव है। अत्यधिक अनुकूल अनुरूप रूपों से। यहाँ भी रूप शब्द पहले की तरह

इहापि पूर्ववत्स्वरूपादित्रिकविषयः । भगवत्स्वरूपादीनामेतत्स्वरूपादीनि यथाक्रममनुरूपाणि । अनुरूपत्वं च संबन्धे सति प्रकृष्टं साहश्यम् । रत्नकाञ्चनादिन्यायेन स्वसम्बन्धिनि शोभातिशयहेतुत्वं वा । त्रयाणामानुरूप्यं * मद्धर्मधर्मिणी नित्यम् * नित्यैवैष। जगन्माता * देवत्वे देवदेहेयमित्यादिभिरभिहितम् । भगवच्छास्त्रे त्वस्य विस्तरः । गाढोपगूढानि-दृढसंबद्धानि वियोगानर्हाणीत्यर्थः । एतेन सन्नियोगशिष्टन्यायस्सूचितः ।

स्वरूप, रूप और विभव इन तीनों का वाचक है । भगवान के स्वरूप, रूप और विभवों के श्री के स्वरूप , रूप और विभव अनुरूप हैं । संवन्ध के रहते प्रकृष्ट सादृश्य अनुरूपत्व है । अथवा रत्नकाञ्चनन्याय से अपने सम्बन्धि में शोभा बढ़ाने का हेतु अनुरूपत्व है । स्वर्ण में खचित रत्न की शोभा स्वर्ण से वढ़ती है; एवं अपने में जडित रत्न से स्वर्ण की कान्ति वढ़ती है । तीनों का आनुरूप्य 'मद्धर्म धर्मिणी नित्यम्' (लक्ष्मी मेरे-भगवान के, धर्म से सर्वदा युक्त है) 'नित्येवैषा जगन्माता' (यह नित्या श्री जगत्कारण है) 'देवत्वे देवदेहेयम्' (भगवान के देव शरीर से युक्त रहने पर यह श्री भी देवदेह धारण करती रहती है) आदि में अभिहित है ।

गाढोपगूढानि—दृढसम्बद्ध, वियोगानर्ह । इससे सन्नियोगशिष्टन्याय सूचित है । यह न्याय है—'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' । अर्थात् एक विधि से विहित पदार्थों की प्रवृत्ति या निवृत्ति दोनों साथ ही होंगी । एक को छोड़कर दूसरे को न ले सकते, है । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्य से

अपराधभीतानां भगवतस्सर्वदा शरण्यत्वार्थं प्राप्तिदशायां शर्करान्वितदुग्धन्यायेन निरतिशयभोग्यत्वार्थं च सर्वप्रकारेण श्रिया गाढोपगूढत्वोक्तिः। निरतिशयभोग्यस्यापि तादृशभोग्यान्तरोपश्लेषेणापि भोग्यत्वमविरुद्धम्।

अग्नि और सोम दोनों का उद्देश्यत्व प्रतीत होता है। इनमें से अग्नि को छोड़कर सोम, या सोम को छोड़कर अग्नि उद्देश्य नहीं बन सकता। इस तरह श्री और भगवान सर्वथा संबद्ध हैं। अपराधों से भीत प्रपन्न लोगों के सर्वदा शरण्यत्व निमित्त, तथा प्राप्तिदशा में शर्करान्वित दुग्ध न्याय से निरतिशय भोग्यता के लिए सभी प्रकारों से श्री से नारायण गाढोपगूढ हैं। अर्थात् नारायण करुणामयी लक्ष्मी के बिना कभी रहेंगे तो उन समयों में अपराधी जनों के प्रति अवश्य रोष दिखायेंगे। अपराधी जन उन समयों में भगवान के शरण में जाने से भीत होंगे। यदि लक्ष्मी साथ में रहती हैं तो भगवान क्रोध दिखा नहीं पायेंगे। तब वे सर्वदा शरण्य रहेंगे। तथा दूध स्वयं मधुर है। तो भी उसमें चीनी डाली जाती है। इस से उसका माधुर्य और बढ़ता है। इस तरह सकल कल्याणगुण पूर्ण भगवान स्वयं भोग्य हैं। लक्ष्मी के संपर्क से उनमें और भोग्यता आती है। यहाँ एक सन्देह होता है कि भगवान में गुणों की संपूर्णता है। अतः भोग्यत्व भी पूर्ण है। ऐसी स्थिति में लक्ष्मी के संपर्क से भगवान में कौन अतिशय आ सकता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि भगवान निरतिशय भोग्य हैं, तो, भी उसी प्रकार के अन्य निरतिशय भोग्य वस्तु के संबन्ध से भोग्यत्व अविरुद्ध है।

ते-भगवदभिमतस्वरूपरूपादिसंपद इति भावः। अस्त्वेवं भगवत्स्वरूपरूपादिषु तत्तदनुरूपाकारैरस्यास्संबन्धः, क्वचित् "सर्वभूतस्थिता द्विज" यथा सर्वगतो विष्णुरित्यादिकं वचनमन्यत्र प्रशस्तपदार्थमात्रवासित्ववचनं च कथं घटेतामिति चेदत्र ब्रूमः—

शुभैकवासवचसां सर्वगत्वगिरामपि ।
अभिमानविशेषाद्यैर्विषयस्स्याद्व्यवस्थितः ॥
व्यापिनी सर्वगेत्याद्यास्सुसूक्ष्मेत्यादयस्तथा ।
श्रीसमाख्या मिथो वैरं जह्युस्तात्पर्यभेदतः ॥
शक्तिकालवशादस्या विभुत्वाद्युपपादकाः ।
प्रच्छन्नस्पष्टजैनाध्वनिरोधादगतीकृताः ॥

ते—भगवान के अभिमत स्वरूप रूप आदि संपदों से युक्त ।

पुनः एक शङ्का होती है कि ऊपर उक्त प्रकार भगवान के स्वरूप में उस के अनुरूप स्वरूप से, रूप में उसके अनुरूप रूप से श्री का सम्बन्ध हो, परंतु कहीं 'सर्वभूत स्थिता द्विज' हे द्विज लक्ष्मी सभी भूतों में स्थित हैं: 'यथा सर्वगतो विष्णुः' जैसे विष्णु सभी वस्तुओं में स्थित है इस प्रकार लक्ष्मी सर्वत्र स्थित है ऐसा कहा है। और कहीं श्रेष्ठ पदार्थ मात्र में वास करती है ऐसा कहा है। यह कैसे सङ्गत है ? इसका समाधान है—

कुछ वचन कहते हैं कि लक्ष्मी शुभपदार्थ में ही वास करती हैं। और कुछ वचन कहते हैं कि लक्ष्मी सभी पदार्थों में वास करती हैं। इन वचनों

की व्यवस्था ऐसा करनी है कि लक्ष्मी सभी पदार्थों में विद्यमान है; परंतु कुछ वस्तुओं में उनका विशेष अभिमान है। इसे कहते हैं 'शुभपदार्थ में ही वास करती हैं' वचन।

व्यापिनी अर्थात् सभी वस्तुओं को व्याप्त करके रहती है, सर्वगा- सभी वस्तुओं में है ऐसे कुछ वचन हैं; तथा सुसूक्ष्मा अत्यन्त सूक्ष्मरूप वाली ऐसा कुछ वचन कहते हैं। एक ही श्री सर्वत्र व्याप्त होकर रहने वाली-विभु एवं अणु जैसा सूक्ष्म भी कैसे रह सकती है ? तथा श्री नाम भी परस्पर विरुद्ध अर्थवाचक हैं। श्रयन्ती, श्रीयमाणा-स्वयं अन्य के आश्रित, अन्यों से आश्रयमाण, ये विरुद्ध अर्थ तो हैं। इस का समाधान किया जाता है 'मिथो वैरं जह्युः तात्पर्यभेदतः।' अर्थात् तात्पर्यभेद के कारण इन में विरोध नहीं है। जैसे ईश्वर के विभु होने पर भी अपने अघटित घटना सामर्थ्य से सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु के भीतर भी अतिसूक्ष्म रूप से विराजता है वैसे श्री भी विभु और सूक्ष्म भी रहती है। तथा अन्य जीवों से आश्रित रहती है, स्वयं अपने पति नारायण के आश्रित है। अतः ऊपर उक्त विषयों में कोई विरोध नहीं है।

और कुछ लोगों का कहना है कि श्री का स्वरूप अणु है। इनकी शक्ति सर्वत्र व्याप्त होकर विभु रहती है। अतः श्री विभु कही जाती है। और अन्य लोग कहते हैं कि कभी यह अणु रहती है, कभी विभु। ये पक्ष प्रच्छन्न जैन एवं स्पष्ट जैनों के पक्ष जैसे हैं। इन जैनों के पक्ष (श्रीभाष्य आदि में) निराकृत हुए हैं। अतः लक्ष्मी के विषय में भी ऊपर उक्त पक्षों को निराकृत समझना चाहिए।

एवं किल ते वदन्ति—यथा विभुस्वभावस्येश्वरस्याघटितघटनासामर्थ्यादणुत्वम्, तथाऽणुस्वभावाया एव तस्या विभुत्वमिति। तत्र दृष्टान्तस्तावदयुक्तः। उपाध्यवच्छेदमात्रेण ह्यणुत्वमीश्वरेऽङ्गीक्रियते, न तु स्वरूपतः। यदि चाघटितघटनाशक्त्याऽत्र विरुद्धद्वयसंभवः, तदा सर्वाद्वैतभेदाभेदपक्षाभ्यां किमपराद्धम्? अथोच्येत - अणुस्वभावत्वेऽपि विकास-

---

वे लोग कहते हैं कि ईश्वर विभु ही है; तो भी उनके अघटित घटना सामर्थ्य से उनमें अणुत्व भी है। उस प्रकार लक्ष्मी अणु है, किन्तु अपने अघटित घटना सामर्थ्य से कभी विभुत्व को पाती है। यह पक्ष युक्त नहीं है; क्योंकि यहाँ दृष्टान्त समञ्जस नहीं है। उपाधि के अवच्छेद मात्र से ईश्वर में अणुत्व का अङ्गीकार करते है; स्वरूप से अणुत्व का नहीं। अर्थात् किसी अणु के अंदर प्रविष्ट होकर विद्यमान ईश्वर उस अणुरूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर रहते समय अणु कहे जाते हैं। आकाश के विभु होने पर भी घट रूप उपाधि से परिच्छिन्न होकर घट के भीतर रहते समय वह घटाकाश-घट परिच्छिन्न आकाश कहा जाता है। स्वरूप से आकाश विभु ही है। इस प्रकार ईश्वर स्वरूप से विभु हैं। यदि अघटित घटना सामर्थ्य से लक्ष्मी में अणुत्व एवं विभुत्व इन विरुद्धद्वय का सम्भव मानते है; तब सर्वाद्वैत-भेदा भेद पक्षों ने कौन सा अपराध किया जिसके कारण उन्हें नही मानते हैं।

शङ्कराचार्य के अद्वैत पक्ष में ब्रह्म एक ही सत्य है; प्रतीयमान प्रपञ्च मिथ्या है; अविद्या से कल्पित है। तत्त्वज्ञान से अविद्या के दूर होते अविद्या कल्पित

कशक्त्याऽस्या: कदाचिद्विभुत्वमविरुद्धमिति, तथा सति समानन्यायतया सर्वेषामात्मनां स्वरूपविकासस्वीकारे विरोधो न स्यात्, 'न च पर्याया-

---

प्रपञ्च का सत्यत्वज्ञान एवं ब्रह्म से भिन्न रूप से जो जीव प्रतीत होता है वह ज्ञान सब नष्ट हो जाते है। अपने वास्तविक ब्रह्म स्वरूप को समझ लेता है।

इस पक्ष के ऊपर यह दोष कहा जाता है कि अविद्या किसके आश्रित होकर किसमें भ्रम पैदा करती है? निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी को तो मानते नहीं। इस आपत्ति का परिहार इस तरह कर सकते हैं कि ब्रह्म की अघटित घटना शक्ति से यह सब होता है। अतः यह पक्ष निर्दुष्ट है।

यादव प्रकाश का भेदाभेद पक्ष इस प्रकार है—परब्रह्म स्वाभाविक अनन्त कल्याण गुणों से सदा युक्त है। अत एव वह सगुण है। पर ब्रह्म का जड़ और जीव के साथ भेदाभेद है। यह भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक है। एक ही ब्रह्म जीव और जड़ से भिन्न एवं अभिन्न कैसे रह सकता है? इसका समाधान करते है कि ब्रह्म के अघटित घटना सामर्थ्य से ऐसा रहता है।

यदि ऐसा कहा जाता है कि श्री अणु ही है। किन्तु उनमें एक विकासक शक्ति है। जब लक्ष्मी उस विकासक शक्ति का उपयोग करती है तब विभु बनती है। ऐसा मानने में विरोध नहीं है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इसी न्याय से सभी आत्माओं का स्वरूपविकास मानने में कोई विरोध नहीं हो सकता। जैन मत खण्डन के लिए प्रवृत्त 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः' सूत्र निरर्थक होगा।

दप्यविरोधो विकारादिभ्य इति जैनप्रतिक्षेपसूत्रमप्यपार्थकं स्यात्। ननु च * का चाऽन्या त्वामृते देवि इत्यादिन्यायेन भगवद्धिग्रहनिवासित्वमनन्त-

---

जैनमत में आत्मा असङ्ख्यात प्रदेश और देह परिमाण वाला है। अर्थात् आत्मा के अवयव इतने है ऐसा गिनकर नहीं कह सकते; तथा जिस देह में रहता है उस देह का परिमाण ही इस आत्मा का भीं है। इस प्रकार मानने पर यह दोष होता है कि हाथी के शरीर में स्थित आत्मा चीटी के शरीर में प्रवेश कैसे करेगा ? प्रवेश आत्मा के एकदेश का ही होगा, संपूर्ण आत्मा का नहीं होगा। इस आपत्ति का परिहार जैन लोग ऐसा करते हैं—आत्मा में सङ्कोच और विकास रूप धर्म हैं। जब हाथी के शरीर में स्थित आत्मा चीटी के शरीर में प्रवेश करता है तब अपने में स्थित सङ्कोच धर्म से अपने स्वरूप को छोटा करके प्रवेश करता है—चीटी में स्थित आत्मा अपने विकास धर्म से स्वरूप को हाथी परिमाण का बनाकर हाथी के शरीर में प्रवेश करता है। अतः उपरि उक्त दोष इस पक्ष में नहीं लगता।

इसके खण्डन में 'न च पर्यायात्' सूत्र उठा है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि यदि सङ्कोच विकास आत्मा में मानोगे तब आत्मा अनित्य सिद्ध होगा। क्योंकि जो सङ्कोच विकास वाला है वह अनित्य है; जेसा घट। आत्मा का अनित्यता प्रसङ्गवारण के लिए यह सूत्र उठा। यदि लक्ष्मी का अणु मानकर, विकास शक्ति से विभु भी मान कर वह नित्य भी है कहोगे तो उपर्युक्त सूत्र की संगति नहीं हो सकती। यह अर्थहीन सिद्ध होगा।

गरुडादिवन्नित्यभगवदिच्छानियमिताधिकारविशेषसिद्धतया श्रियस्स्तुतये भवतु, भगवत्स्वरूपे तु गाढसंबन्ध उच्यमानस्सर्वसाधारणत्वान्नै तस्यास्स्तुत्यै स्यात् । तत्र यद्यनुरूपत्वोक्त्या स्तुतिसिद्धिरभिप्रेता, तदा किं तदनुरूपत्वम् ? अणुत्वेन वैषम्येऽपि स्वतन्त्रशेषिणं प्रति पारतन्त्र्यशेष-

---

और कुछ शङ्कायें इस प्रकार की हैं—कहते है कि श्री को भगवद्विग्रह में वास तथा भगवान के स्वरूप में गाढ संबन्ध दोनों हैं । ये दोनों लक्ष्मी की स्तुति है । यह सङ्गत नहीं है । 'का चान्या त्वामृते देवि' हे देवि, आप के बिना और कौन·· न्याय से अनन्त गरुड आदि की तरह भगवान की नित्य इच्छा से श्री को भगवान में नित्यवास करने का अधिकार सिद्ध है । यह अधिकार अन्य सामान्य जीवों का नहीं है । अतः यह भगवद्वास श्री की स्तुति हो सकता है । किन्तु भगवान के स्वरूप में गाढ सम्बन्ध जो यहाँ कहा गया है वह सभी जीवों का साधारण है । सब जीव भगवान के स्वरूप से दृढ़ सम्बद्ध ही हैं । सब उनके शरीर हैं । शरीर शरीरी से दृढ़ संबद्ध है ही । अतः यह स्वरूप से गाढ़ सबन्ध जो यहाँ उक्त है वह कैसे स्तुति बन सकती है ? यदि वहाँ अनुरूप कहे जाने से स्तुति मानते हो, तब पहले यह कहो कि वह अनुरूपत्व क्या है ? भगवान विभु हैं, यह लक्ष्मी अणु है । ऐसा वैषम्य दोनों में होने पर भी लक्ष्मी उनकी विभूति रहकर विभूतिमान नारायण में अतिशय पैदा करती हैं । विभूति वह है जो स्वतन्त्र शेषी के परतन्त्र और शेष रहती है । स्वतन्त्र शेषी नारायण के परतन्त्र और शेष लक्ष्मी विभूति है । विभूति लक्ष्मी से विभूतिमान नारायण में अतिशय होता है । इस प्रकार अतिशय उत्पन्न करना ही अनुरूपत्व है ।

त्वाभ्यां विभूतित्वेनातिशयावहत्वमिति चेत्तदपि सर्वचिदचित्समानम् । न चानादिसर्वज्ञत्वादिसाम्यमिहानुरूप्यं, तस्यापि नित्यसूरिसाधारणतया तान् प्रति शेषित्वेनोक्तायास्तस्यास्तेन स्तुत्यनुपपत्तेः । अन्यथा द्रव्यत्व-चेतनत्वादिभिरपि स्तोतव्यत्वप्रसङ्गात् । अथ * त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगव्द्याप्तं चराचरमित्यादिवचनस्वारस्यावगताद्विभुत्वादनुरूपत्वं विव-क्ष्यते, तदप्ययुक्तम्, जीवेश्वरकोटिविकल्पानुपपत्तेः । जीवत्वं ह्यणुत्व-

---

यह ठीक नहीं है । क्योंकि यह अनुरूपत्व सब चित् और अचिदो में भी है । वे भी परतन्त्र और शेष है ।

यदि कहते हो कि अनादि सर्वज्ञत्वादि साम्य यहाँ आनुरूप्य है । अर्थात् अनादि काल से भगवान में सर्वज्ञत्व सत्य सङ्कल्पत्व आदि हैं । उसी प्रकार लक्ष्मी में भी है । यही आनुरूप्य है । यह भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि अनादि सर्वज्ञत्व सत्य सङ्कल्पत्व आदि नित्य सूरियों में भी है । उनके भी शेषी है लक्ष्मी । तो शेषभूत नित्य सूरियों में भी विद्यमान गुणों से शेषिभूत लक्ष्मी की स्तुति कैसे हो सकती है ? यदि सर्वसाधारण गुणों से स्तुति हो सकती है तो ऐसा भी स्तुति कर सकते हैं कि लक्ष्मी द्रव्य है; चेतन है ।

हे मातः यह चर और अचर रूप जगत् आपसे तथा विष्णु से व्याप्त है । यदि 'त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम्' आदि वचनस्वारस्य से अव-गत विभुत्व को लेकर आनुरूप्य कहा जाता है, वह भी युक्त नहीं है । इस प्रकार विकल्प करने की सम्भावना ही नहीं रहेगी कि लक्ष्मी जीव है या ईश्वर है ।

व्याप्तम् , क्वचिज्जीवे तन्निवृत्तावतिप्रसङ्गः । * यथा सर्वगतो विष्णुः इत्यादिव्याप्तिवचनं *सौम्यासौम्यैर्जगद्रूपैस्त्वयैतद्देवि ! पूरितमित्युक्तासङ्ख्यातविग्रहसंबन्धाभिप्रायं स्यात् । ईश्वरत्वे तु भगवतोऽन्यत्वे तस्य भगवतः समाधिकदरिद्रत्वश्रुतिविरोधः । तदनन्यत्वे दम्पतित्वाद्यनुपपत्तिः । आनुरूप्यवचनं चानर्थकं स्यात् । इमौ चात्यन्तसाम्यस्वरूपैक्यपक्षौ पूर्व-

---

क्योंकि जीव अणुत्व व्याप्त है । अर्थात् सभी जीव अणु हैं । लक्ष्मी को जीव मानने पर वह अणु ही रहेगी, विभु नहीं रह सकती । किसी एक जीव (लक्ष्मी) में अणुत्व नहीं है ऐसा मानने पर अति प्रसङ्ग होगा । 'यथा सर्वगतो विष्णुः' जैसे विष्णु सर्वपदार्थों में स्थित है (वैसे लक्ष्मी भी सभी वस्तुओं में व्याप्त होकर रहती है) आदि वचनों का यह तात्पर्य है कि लक्ष्मी जी अनगिनित विग्रहों से संबद्ध है । जिस संबन्ध का उल्लेख

'सौम्या सौम्यैर्जगद्रूपैः त्वयैतद्देवि पूरितम् ।'

हे देवि, यह जगत् आपके सौम्य एवं असौम्य रूपों से पूर्ण है आदि में किया है । लक्ष्मी को ईश्वर अर्थात् उनमें ईश्वरत्व है ऐसा मानेंगे तो क्या वह लक्ष्मी भगवान से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? भगवान से भिन्न होकर ईश्वर है ऐसा मानें तो 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' श्रुति से विरोध होता है । यह श्रुति तो यह कहती है कि भगवान से सम अथवा उनके अधिक कोई नहीं है । अभिन्न मानते हैं तो तब इस कथन का विरोध होता है कि नारायण और लक्ष्मी दंपति है । अनुरूप कहना भी अनर्थक होगा । ये अत्यन्त साम्य पक्ष तथा स्व-

मपि निरस्तौ। अत्र भेदाभेदकाल्पनिक भेदाभेदपक्षौ च प्रामाणिकैः प्रतिक्षिप्ताविति । अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तमितरसाधारणैराकारैस्स्तुत्यनुपपत्तिरिति, तदसत्, व्यावर्त्यान्तरवत्त्वे प्रयोजनविशेषवत्त्वे च सत्यनेकसाधारणैरपि कैश्चित् स्तुत्युपपत्तेः। स्तूयते हि सर्वेश्वरोऽपि नित्यमुक्तसाधारणैराकारैस्सर्वज्ञत्वादिभिः । यत्तु विभुत्वे जीवेश्वरकोटिविक-

---

रूपैक्य पक्ष दोनों पहले ही निरस्त है। लक्ष्मी भगवान से भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। ये भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक है। यह स्वाभाविक भेदाभेद पक्ष यादव प्रकाशाचार्य का है। अभेद स्वाभाविक है, भेद उपाधि कल्पित है ऐसा मानने वाले भास्कराचार्य है। ये भेदाभेद एवं काल्पनिक भेदाभेद दोनों पक्ष प्रामाणिकों से निराकृत हैं। अतः अनुरूपत्व का निरूपण किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता। अनुरूपत्व नहीं है तो स्तुति भी सिद्ध नहीं होती।

इस आपत्ति का समाधान इस प्रकार है—यह आपत्ति कि सभी में विद्यमान भगवत्स्वरूप में गाढ संबन्ध आदि स्तुति नहीं हो सकती, गलत है। जिन आकारों के उल्लेख से इस स्तुत्य से भिन्न कई वस्तु व्यावर्तित होते हैं, और इन आकारों से कुछ विशेष प्रयोजन होते है, उन आकारों के अन्यवस्तुओं में होने पर भी उनसे स्तुति बन सकती है। सर्वेश्वर की स्तुति नित्य और मुक्तों में विद्यमान सर्वज्ञत्व आदि आकारों से भी तो होती है।

अन्य आपत्ति जो की गयी कि लक्ष्मी के विभु होने पर जीव है या ईश्वर ऐसा विकल्प ही न कर पायेंगे, इसका परिहार कुछ लोग इस प्रकार करते हैं—

ल्पानुपपत्तिरिति, तत्र केचिदेवं परिहरन्ति - जीवत्वेऽप्यस्या विभुत्वं न विरुध्यते। जीवविषयाणुत्वश्रुतिर्हि न सर्वजीवव्यापिनी, तत्तत्प्रकरणसन्निहितेषु बद्धेष्वेव तत्प्रवृत्तेः। *वालाग्रेत्यादौ तु *स चानन्त्याय कल्पत इति मुक्तविषयो वाक्यशेषः आत्मनां निर्विकारत्वस्थापनाद्धर्मभूतज्ञानद्वारा व्याप्तिमभिसन्धत्ते। एवम् *सर्वमेवाविशन्तीत्यादीनि वाक्यान्तराण्यपि। एतच्च * प्रदीपवदावेशः इत्यादिसूत्रे प्रदर्शितम्। नित्येषु च संप्रतिपन्न-

---

लक्ष्मी के जीव होने पर भी विभु होने में कोई विरोध नहीं है। जो श्रुति जीव को अणु बताती है वह सभी जीवों को अणु नहीं कहती। उस प्रकरण के सन्निहित बद्धजीवों को ही वह अणु कहती है।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

अर्थात् केश के अग्रभाग के सौवां भाग जीव का परिमाण है; वह आनन्त्य-मोक्ष पाने समर्थ है।

इस वचन में विद्यमान 'स चानन्त्याय कल्पते' वाक्यशेष मुक्तात्म विषयक है। आत्माओं के निर्विकारत्व का स्थापन करता है, धर्मभूत ज्ञान द्वारा व्याप्त होने को बताता है। इस प्रकार 'सर्वमेवाविशन्ती' आदि वाक्यों का भी तात्पर्य लेना है। सभी में प्रविष्ट होकर रहने वाली कहने से लक्ष्मी का विभुत्व सिद्ध है। यह 'प्रदीपवदावेशः' सूत्र में प्रदर्शित है। इस सूत्र में यह बताया जाता है कि जैसे एक स्थान में स्थित दीप अपनी प्रभा के द्वारा अन्य स्थानों में भी आविष्ट होता है वैसे मुक्तात्मा के अणु होने पर भी अपने संकल्प

जीवसाजात्यागतस्याणुत्वस्य बाधकश्रुत्यभावादनुग्राहकसद्भावाच्च स्वीकारः। लक्ष्म्यास्तु तथैव प्राप्तस्याणुत्वस्यानन्यथासिद्धव्यापित्ववचनं बाधकम् । न च सर्वगतादिशब्दानां सार्वत्रिकावतारसर्वशेषित्वादिप्रतिपादकत्वं कल्प्यम् ; यथाश्रुतस्वीकारे विरोधाभावात् । नापि मुक्तवद्ध-

---

से सृष्ट सभी शरीर में अपने चैतन्य द्वारा आवेश संगत है। नित्य आत्मा में भी अणुत्व का स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनमें जीवत्व को सभी वादी मानते हैं। उस जीवत्व के साथ अणुत्व भी जीवरूप समानता के कारण इनमें आ जाता है। तब जीवत्व रूप समानता के कारण बद्ध जीव में विद्यमान दुःख आदि भी प्रसक्त होगा ? न होगा। क्योंकि दुःख आदि नहीं हैं कहने वाली कई श्रुतियाँ है; अणुतत्त्व के विरोध में कोई श्रुति वाक्य नहीं है; प्रत्युत अणुत्व को सिद्ध करने वाली श्रुति उपस्थित है। लक्ष्मी में भी जीवत्व रहने के कारण उस जीवत्व के साथ जीव में विद्यमान अणुत्व भी आ सकता है। परन्तु नहीं आता। क्योंकि व्याप्ति को बताने वाले वचन हैं। जिन वचनों का अन्यथा तात्पर्यवर्णन नहीं कर सकते।

ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि 'सर्वगता' आदि शब्द सर्वत्र अवतार लेती हैं अथवा सभी के शेषी हैं अर्थ का प्रति पादन करते हैं। क्योंकि शब्दों से जो अर्थ स्वाभाविक रूप से प्रतीत होता है उसे छोड़कर अन्य अर्थ की कल्पना क्यों करे ? यह भी कल्पना ठीक नहीं है कि लक्ष्मी अणु ही है, परन्तु मुक्तों की तरह अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है। क्योंकि मुक्तों

र्मभूतज्ञानद्वारा व्याप्तिकल्पनं युक्तम्; तद्वत् बाधकश्रुत्याद्यभावात्। विभुद्वयासंभव इह बाधक इति चेन्न, कालतत्त्वे नित्यमुक्तेश्वराणां धर्मभूतज्ञाने च विभुत्वस्वीकारात्। जीवलक्षणमपि परतन्त्रचेतनत्वमात्रम्, अणुचेतनत्वं त्वेतद्व्यतिरिक्तजीवविषयम्। अथवा जीवलक्षणेऽणुशब्दः परिच्छिन्नमात्रपरस्सन् अमुष्यां भगवत्पराधीनायां स्वातन्त्र्यगुणपरिच्छेदेन वर्तताम्। एवं च जन्माद्यधिकरणे **भाष्यम्** * अनन्तपदं देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितत्वरूपमाह। सगुणत्वात् स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणै-

---

के विभुत्व के बाधक श्रुतियाँ है। लक्ष्मी के विषय में ऐसी श्रुतियाँ नहीं है। यदि कहते हो कि दो विभु नहीं हो सकते हैं। ईश्वर एक विभु तो है। अतः लक्ष्मी विभु नहीं हो सकती। यह तर्क भी युक्ति संगत नहीं है। ईश्वर के अतिरिक्त कालतत्व, नित्य, मुक्त और ईश्वर के धर्मभूत ज्ञान में भी विभुत्व का स्वीकार करते ही है। परतन्त्र चेतन जीव है, यही जीव का लक्षण है। अणुत्व को श्रीव्यतिरिक्त चेतन में मानना है। अथवा जीव लक्षण में अणुत्व भी हो। परंतु अणु का अर्थ है परिच्छिन्न। श्री भगवान के पराधीन है, अतः स्वातन्त्र्य गुण इनमें परिच्छिन्न हैं। इस प्रकार लक्ष्मी में अणुत्व भी संगत है।

यहां भाष्यकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' वाक्य में स्थित अनन्त पद का तात्पर्य वर्णन करते हैं। अनन्त पद देश, काल वस्तु से अपरिच्छिन्न स्वरूप को कहता है। स्वरूप तो सगुण है। अतः स्वरूप भी अनन्त है, उसके गुण भी अनन्त

श्चानन्त्यम् । तेन पूर्वपदद्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणास्सातिशयस्वरूपस्व-गुणा नित्या व्यावृत्ता इति । अत्र ह्यन्येषां नित्यानां स्वरूपतो गुणतश्च सातिशयत्वेन व्यावृत्तत्वं, लक्ष्म्यास्तु स्वरूपतो निरतिशयत्वेऽपि पार-तन्त्र्यादियोगात् गुणतस्सातिशयतया व्यावृत्तता युज्यते । तथा च जग-त्कारणत्वलक्षणेऽपि व्यापारतस्सातिशयत्वाद्व्यावृत्तत्वम् । अतो जीवत्वे-ऽप्यस्यास्स्वरूपविभुत्वेन *पतिस्वरूपानुरूप्यमिति । अपरे त्वस्याश्चेतन-

---

हैं। सत्य पद से विकारास्पद अचेतन और उस अचेतन से संबद्ध चेतन दोनों व्यावृत्त होते हैं। ज्ञान पद से मुक्त व्यावृत्त होते है। (क्योंकि इनका ज्ञान इनकी संसार दशा में अविकसित था) इन दोनों से विलक्षण अतिशयित रूप गुण वाले नित्य अनन्त पद से व्यावृत्त हैं। क्योंकि भगवान तो निरतिशय गुण वाले है।

मुक्त और नित्य स्वरूप एवं गुण से सातिशय हैं। भगवान तो निरतिशय हैं। अतः नित्य और मुक्त भगवान से व्यावृत्त हैं। लक्ष्मी तो स्परूप से निर-तिशय है, तो भी इन में पारतन्त्र्य गुण होने के कारण गुण से सातिशय हैं, निरतिशय नहीं हैं। अतः भगवान से इनमें व्यावृत्ति युक्त ही है। जगत्कारणत्व लक्षण में भी व्यापार से सातिशय होने के कारण व्यावृत्ति है। अर्थात् जगत की सृष्टि स्थिति संहार व्यापार भगवान में निरतिशय हैं, लक्ष्मी में सातिशय हैं। अतः लक्ष्मी के जीव होने पर भी उनके स्वरूप के विभु होने के कारण पति के स्वरूप से आनुरूप्य है।

त्वात् अचिदन्यत्वं; विभुत्वाज्जीवान्यत्वं ; पारतन्त्र्यादीश्वरान्यत्वं, च। न हि सदसद्विलक्षणादिष्विवात्र विरोधः, जीवेश्वररूपेण विविधात्मविभागवचनेषु त्वस्या अनुक्तिरविवक्षामात्रात्। वस्तुतस्तु पतिपुत्रव्यावृत्तपत्नीन्यायेन लक्ष्म्याः कोट्यन्तरत्वम्, तत्र लक्ष्म्या अपि सत्ता भगवदधीना, भगवतस्तु वैभवं रत्नप्रभापुष्पपरिमलन्यायेन लक्ष्म्यायत्तम्। अतोऽत्रापि पतिस्वरूपानुरूप्यं पत्नीस्वरूपस्य सुगममिति। अन्ये तु

दूसरे कहते हैं—लक्ष्मी चेतन है, अतः अचित् से भिन्न है। विभु है, अतः जीव से अन्य है। परतन्त्र है अतः ईश्वर से भिन्न है। सदसद्विलक्षणादि में जैसे यहां विरोध नहीं है। अद्वैती लोग कहते हैं कि ब्रह्म को सत् भी नहीं कह सकते असत् भी। वह सदसदनिर्वचनीय है। इस मत में यह विरोध है कि एक ही वस्तु सत् और उसके विरुद्ध स्वभाव असत् कैसे हो सकता। इस तरह का विरोध यहां नहीं है। जीव और ईश्वर का, तथा जीवों का परस्पर विभाग बताने वाले वचन ने लक्ष्मी रूप जीव का पृथक् विभाग इसलिए नहीं बताया कि उन वचनों को इसकी विवक्षा नहीं है। वस्तुतः जैसे पति और पुत्र से पत्नी भिन्न है इस न्याय से लक्ष्मी ईश्वर और अन्य जीव से भिन्न कोटि की हैं। लक्ष्मी की सत्ता भगवान के अधीन है। भगवान का वैभव रत्न-प्रभा, पुष्प-परिमल न्याय से लक्ष्मी के आयत्त है। प्रभा से रत्न चमकता है, परिमल से पुष्प की मान्यता है। अतः यहां भी पत्नीस्वरूप का पतिस्वरूप आनुरूप्य सुगम ही है।

स्वरूपस्थितिरेवमस्तु, तथापि सेयमीश्वरकोटि:, विभूतिद्वयशेषित्वादि-मात्रेण तल्लक्षणसिद्धेः । तत्र सर्वशेषित्वादिकं भगवतः । अस्यास्तु तदितरसर्वशेषित्वादिकमिति विभागः । अनुरूपत्वं तु पूर्ववदेव, जगत्का-रणत्वादिब्रह्मलक्षणं तु पतिमात्रगोचरम् । अत एव तस्य सर्वेश्वरत्वं समाधिकदरिद्रत्वं चेति । तदिदं पक्षत्रयमन्योन्यमनतिविप्रकृष्टम् । जीवादिसमाख्यानिवेशे तु मिथो विवादः ।

प्रागुक्तेन सहैतेषु पक्षेष्वत्र चतुर्ष्वपि ।
स्वतन्त्रपतिनित्येच्छासिद्धं सर्वमिदं श्रियः ॥

और लोगों का कहना है कि लक्ष्मी की स्वरूपस्थिति पूर्वोक्त प्रकार ही है । तो भी यह ईश्वर-कोटि में ही आती है । नित्य और लीला विभति के जो शेषी है वह ईश्वर है । लक्ष्मी भी भगवान की तरह इन दोनों विभूतियों के शेषी है । अतः वह ईश्वर कोटि में है । किन्तु यहां एक विभजन करना है कि भगवान सभी के शेषी हैं, यह तो भगवान से अन्य सभी के शेषी है । अनुरूपत्व पहले की तरह है । जगत्कारणत्वादि ब्रह्मलक्षण पतिमात्र में है । अत एव उसमें सर्वेश्वरत्व तथा समाधिकदरिद्रत्व हैं । समाधिकदरित्रत्व का तात्पर्य है— अपने के समान या अधिक कोई न होना । इन तीनों पक्षों में अधिक भेद नहीं है । जीव आदि नाम करण में ही परस्पर विवाद है ।

पूर्वोक्त पक्ष के साथ इन चारों पक्षों में मी श्री के ये सभी विभव स्वतन्त्र पति नारायण की नित्येच्छा से सिद्ध है । 'न तस्येशे कश्चन' उसका ईश कोई

अपि चैवं न तस्येशे कश्चनेत्यादिदर्शनात् ॥
अतश्चतुर्भिरप्येतैः पत्यावैश्वर्यविश्रमः ।

अत एव नरसम्बधिन्नो नारा इति नरशब्दार्थत्वेऽप्यस्याः पतिवत्तदिच्छायत्तं प्रधानप्राप्यत्वादिकमविरुद्धम् । आकारसाम्येऽपि क्वचिद्व्यापारो भिद्यते । सर्वकर्तुर्वल्लभाप्रीत्युद्देशेन तत्तल्लीलाप्रवृत्ते-स्तस्या अपि तदन्वयोक्तिरविरुद्धा । सहारब्धेऽपि कार्ये लौकिकपति-

---

नहीं है आदि वाक्य से भी यह बात सिद्ध है । अतः इन चारों पक्षों से भी यह सिद्ध होता है कि सभी ऐश्वर्य पति के हैं ।

अत एव 'नरसम्बन्धिनों नाराः' व्युत्पत्ति के अनुसार लक्ष्मी के नर-अर्थात् नारायण संबन्धी होने के कारण लक्ष्मी नार शब्दार्थ है । नार होने पर भी नर-पति की तरह पति के इच्छायत्त प्रधान प्राप्यत्वादि अविरुद्ध है । तात्पर्य है कि अन्य तत्त्वों की तरह लक्ष्मी के भी नार होने से यह ईशितव्य अर्थात् ईश से शासनीय-उनके अधीन ही रहेगी । यह कैसे प्राप्य, तत्रापि प्रधान प्राप्य होगी ? इस सङ्का का उत्तर 'पति के इच्छायत्त' आदि से देते हैं । पति नारायण इच्छा करते हैं कि हमारी पत्नी श्री भी हमारी तरह प्रधान प्राप्य रहे । इस कारण से लक्ष्मी के प्रधान प्राप्यत्व में कोई विरोध नहीं है । आकार में साम्य होने पर भी कहीं कहीं व्यापार भिन्न रहता है । सर्वकर्ता भगवान अपनी वल्लभा श्री की प्रीति के लिए लीलाओं में प्रवृत्त होते हैं । अतः श्री का भी उन लीलाओं में अन्वय कहने में कोई विरोध नहीं है । पति और पत्नी दोनों

न्यायेन पतिप्राधानन्यव्यपदेशः पतिकर्तृकत्वमात्रव्यपदेशश्चोपपन्नः। पतिबुद्धयधीनस्यापि पत्न्या गुणभावस्योभयेच्छासिद्धत्वव्यपदेशस्तस्या अपि तथैवेष्टत्वाविशेषादुपपद्यत इति गमनिकेति । अत्र सर्वभूतेश्वरत्वादिवचनसाम्यादस्या गुणभाव उभयेच्छाप्रयुक्त इति केचिदाहुः ॥

अन्योन्येच्छाविघातादिनिवृत्तौ तत्परत्वतः ।
ऐककण्ठ्यमशेषाणामागमानां भवत्विति ॥

के कार्य का आरम्भ करने पर भी लोक में पति को ही प्राधान्य देते हैं। इसी न्याय से पति की प्रधानता कहना और पति ने ही किया कहना दोनों उपपन्न हैं। पत्नी में जो गुणभाव (अप्रधानता) है वह पतिबुद्धयधीन है। अर्थात् पति सङ्कल्प करते हैं कि पत्नी अधीन रहे। तो भी इस पत्नी में स्थित गुणभाव-गौणता को पति पत्नी दोनों की इणच्छा से सिद्ध कहना पत्नी के भी पति की तरह इच्छा करने से उपपन्न होता है। लक्ष्मी भी इच्छा करती है कि 'हम पति के अधीन रहें'। यहां सर्वभूतेश्वरत्वादि वचन साम्य से इनका गुणभाव उभयेच्छा प्रयुक्त है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। तात्पर्य हैं—नारायण लक्ष्मी दोनों को सर्वभूतेश्वर कहने वाले वचन हैं। तब नारायण की प्रधानता और लक्ष्मी की गौणता कैसे कह सकते हैं ? इसका उत्तर इस पंक्ति में दिया जाता है। लक्ष्मी की गौणता को पति नारायण तथा पत्नी लक्ष्मी दोनों चाहते हैं। अतः यह गुण भाव है।

पञ्चस्वेतेषु पक्षेषु कश्चिदेकः प्रमाणवान् ।
सलक्ष्मीकस्य सामाम्राज्यं सर्वथा सुप्रतिष्ठितम् ।।
इहैवं क्वचिदंशे तु संशयेऽपि विपश्चिताम् ।
उपयुक्तांशवैशद्यादुपायफलसंभवः ।।
अत्र स्वामित्वसौलभ्यफलदत्वफलत्वतः ।
आनुरूप्येण सम्बन्धः श्रीपतौ दर्शितश्श्रियः ।।

ऊपर उक्त प्रकार, नारायण और लक्ष्मी दोनों की समान इच्छा से सब काम होते हैं । परस्पर विरुद्ध इच्छा कभी नहीं करते हैं । अतः लक्ष्मी की सर्व-भूतों में स्थिति कहने वाले वचन, प्रशस्त पदार्थ में स्थित कहने वाले वचन, भगवान से सम या अधिक नहीं है कहने वाले वचन, सभी प्रकारों से श्री का भगवान से 'गाढोपगूढत्व' वचन सब समञ्जस होते हैं ।

पूर्वोक्त इन पांच पक्षों में कोई एक पक्ष प्रमाणवान है । सभी पक्षों में लक्ष्मी सहित भगवान का साम्राज्य सुप्रतिष्ठित है ।

यहां इस प्रकार किसी एक अंश में विद्वानों का संशय होने पर भी हमारे लिए जो उपयुक्त अंश है वह तो स्पष्ट हैं । उपाय और फल के रूप में लक्ष्मी स्थित हैं ।

यहां यह भी स्पष्ट किया गया कि भगवान में जो स्वामित्व, सौलभ्य, फल प्रदातृत्व और फल स्वरूप हैं वे सब श्री में भी हैं । अतः श्रीपति से श्री का अनुरूप सम्बन्ध है ।

अपि चात्र द्वयार्थमनुसन्धित्सता श्रीशब्दनिरुक्तयश्च तत्रतत्र सूचिताः। मत्वर्थस्तु नित्ययोगस्वरूपरूपादिसर्वविषयतया चतुर्थ-श्लोके व्यञ्जितः । नारायणशब्दार्थोऽपि * कान्तस्ते पुरुषोत्तमः, * शान्तानन्तमहद्विभूतीत्यादिभिस्सङ्ग्रहेणोक्तः । चरणशब्दोपलक्षित-तविग्रहयोगोऽपि * मूर्तं ब्रह्मेत्यादिना प्रदर्शितः ।

एवं सङ्क्षिप्तसिद्धांशविशदीकारपूर्वकम् ।
साध्यं प्राप्यमुपायं च स्तोत्रे संदर्शयिष्यति ।।

और इस स्तोत्र में द्वय के अर्थ का अनुसन्धान करने की इच्छा से आचार्य ने श्री शब्द निर्वचनों को भी सूचित किया है। उपाय और उपेयदशा में सर्वत्र इनका भगवान से नित्ययोग है; स्वरूप से तथा रूप से लक्ष्मी भगवान से सम्बद्ध है। द्वयमन्त्र के 'श्रीमते' में जो मतुप है उसके ये अर्थ है। ये अर्थ 'शान्तानन्त' श्लोक से व्यञ्जित हैं। 'कान्तस्ते पुरुषोत्तमः' 'शान्तानन्तमहाविभूति परमं' इत्यादियों में नारायणशब्दार्थ संक्षेप में उक्त है। चरण शब्द से उपलक्षित विग्रह सम्बन्ध भी 'मूर्तं ब्रह्म' इत्यादि से दिखाया गया ।।

एवं संक्षिप्तसिद्धांशविशदीकार पूर्वक्रम् ।
साध्यं प्राप्यमुपायं च स्तोत्रे सन्दर्शयिष्यति ।।

इसी प्रकार आचार्यपाद चतुःश्लोकी में संक्षेप से सिद्ध अंशों का स्तोत्ररत्न में विशद करते हुए, साध्य, प्राप्य और उपाय का ज्ञान करायेंगे ।

कविकथकसिंह इत्थं त्रय्यन्ताचार्य इत्यभिख्यातः ।
व्यवृणुत यामुनविहितां रमास्तुतिं वेङ्कटेशकविः ॥

इति कवितार्किक सिंहस्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्रस्य
श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य
कृतिषु
श्रीचतुःश्लोकीभाष्यं
समाप्तम्

कविकथकसिंह इत्थं त्रय्यन्ताचार्य इत्यभिख्यातः ॥
व्यवृणुत यामुनविहितां रमास्तुतिं वेङ्कटेशकविः ॥

कवितार्किकसिंह, वेदान्ताचार्य नाम से प्रसिद्ध वेङ्कटेशकवि
ने श्री यामुन विरचित श्रीस्तुति का विवरण
इस प्रकार किया ॥

कवितार्किकसिंहाय कल्याणगुणशालिने ।
श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नमः ॥

वेद
veda

2